: ६ :

भरत चक्रवर्ती की नौ निधियाँ

भरत के पास नौ निधियाँ थीं। उनसे मनोवाञ्छित फल प्राप्त किया जा सकता था। वे इस प्रकार थीं[1]—

१. **कालनिधि**—शरद, ग्रीष्म और वर्षाऋतु के योग्य द्रव्य पदार्थ को देने वाली निधि कालनिधि कहलाती है।

२. **महाकालनिधि**—यह निधि नाना प्रकार के भोज्य पदार्थों को प्रदान करती है।

३. **पाण्डुनिधि**—सम्पूर्ण धान्य (गोधूमादि) इस निधि से प्राप्त होते हैं।

४. **माणवक निधि**—जो विविध आयुधों (असि मूसल आदि) को उपलब्ध कराती है।

५. **शंखनिधि**—इससे नाना वादित्र (तत, वितत, घन, सुशिर आदि) प्राप्त हो जाते हैं।

६. **नैसर्प निधि**—अनेक प्रकार के महल, मकान आदि इससे मिलते हैं।

७. **पद्मनिधि**—इस निधि से स्वर्ग के वस्त्रों के समान अमूल्य वस्त्र प्राप्त होते हैं।

८. **पिंगलनिधि**—यह स्त्री-पुरुषों को उनके योग्य आभरण प्रदान करती है।

९. **सर्वरत्ननिधि**—वज्र, वैडूर्य, मरकत, माणिक्य, पद्मराग, पुष्पराग आदि रत्नों की प्रदाता सर्वरत्ननिधि कहलाती है।

ये निधियाँ सभी चक्रवर्तियों को प्राप्त होती हैं। भरत के बाद होने वाले ११ (ग्यारह) चक्रवर्तियों को भी मिलीं। वे ११ चक्रवर्ती इस प्रकार थे—सगर, मघवा, सनत्कुमार, शांति, कुंथु, अरह, सुभौम, महापद्म, हरिसेन, जयसेन, ब्रह्मदत्त। भरत को मिला कर १२ चक्रवर्ती वर्त्तमान काल के माने जाते हैं। इनमें भरत सर्वप्रथम हुए।

---

१. देखिए माघनन्दि-विरचित 'शास्त्रसार-समुच्चय', सूत्र १८वां, पृष्ठ ७४.

भरत और भारत

डॉ० प्रेमसागर जैन
अध्यक्ष : हिन्दी विभाग
दि० जैन कालिज, बड़ौत,
(उ० प्र०)

प्रकाशक
दिगम्बर जैन कालिज प्रबन्ध समिति
बड़ौत (मेरठ)

भरत और भारत

'आसीत्पुरा मुनिश्रेष्ठः भरतो नाम भूपतिः ।
आर्षभो यस्य नाम्नेद भारत खण्डमुच्यते ॥'

—नारद पुराण

अनुक्रमणिका

प्रकाशकीय

दो वर्ष पूर्व 'विश्वधर्म' की रूपरेखा पढ़ी। मुनिश्री विद्यानन्द जी की महत्त्वपूर्ण कृति। एक स्थान पर ध्यान जमा। प्रश्न उभरा कि क्या वास्तव में 'भारतवर्ष' नाम के मूलाधार, जैनों के आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत थे ? सौभाग्य की बात है कि विगत वर्ष मुनिश्री का चातुर्मास बड़ौत में हुआ। उसके बाद भी कॉलिज की प्रबन्ध समिति के तत्त्वावधान मे वे ५ माह और रहे। इसी काल में उनका मनन, अध्ययन और शोध-खोज का कार्य सम्पन्न हुआ।

एक दिन चर्चा हुई। हमने चाहा कि उपर्युक्त विषय पर अधिक शोध-खोज होकर एक पृथक् पुस्तक प्रकाशित हो जावे। शायद मुनिश्री के विचार में यह बात पहले से थी। अतः उन्हे प्रस्ताव अनुकूल प्रतीत हुआ। उन्होंने यह कार्य हमारे हो कॉलिज के हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ० प्रेमसागर जैन को सौंप दिया। समय-समय पर अपना निर्देशन देना स्वीकार किया।

भारतीय सस्कृति की दो पुनीत धाराएँ थीं—श्रमण और वैदिक। दोनों एक दूसरे की पूरक थी। बहुत समय तक ऐसी ही रहीं। ऋग्वेद में वातरशना, पिशांगा और वसतेमला मुनियों की जो प्रशंसा की गई, तो वह गीता और श्रीभद्मागवत तक अबाध रूप से चलती रही। ऐसा डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री आदि अनेक विद्वान मानते हैं। आगे जाकर भेद हुआ। दिशाएँ मुड़ गई। खाई चौड़ी होती गई। किन्तु बात है पहले को। सन्दर्भ उसी से सम्बन्धित है। इस ग्रन्थ से यह सिद्ध हो गया है कि वैदिक धारा के ग्रन्थों में ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत को ही इस देश के नाम 'भारतवर्ष' का मूलाधार माना गया है। यह एक नई बात है। इतिहास के अनुसन्धित्सुओं को भायेगी

और राष्ट्रीय चेतना को भी अपने नाम का एक प्रामाणिक आधार प्राप्त होगा, ऐसा हमें विश्वास होता है।

ऋषभ-पुत्र भरत के पूर्व इस देश का नाम 'अजनाभवर्ष' था। वह भरत के दादा—१४वें कुलकर, मनु नाभिराय के नाम पर रक्खा गया था। यह बात बहुत कम लोग जानते होंगे। लेखक ने 'आमुख' में इस तथ्य को नाना प्रमाणों के साथ प्रस्तुत किया है, विश्वास-पूर्वक लिखा है। वैसे तो शोध एक सतत प्रवाह है और नये-नये तथ्यों के उभरने की सम्भावना कभी विरमित नहीं होती, होनी भी नहीं चाहिए, किन्तु अभी तो लेखक ने जो कुछ रक्खा है, वह नितांत नवीन है, ऐसा हम समझे हैं।

हमारे इन विचारों से अनुप्राणित हो, कॉलिज की प्रबन्ध समिति ने इसके प्रकाशन का विचार किया। वह यदि पाठकों को रुचा तो हमें प्रसन्नता ही होगी। हम चाहते हैं कि राष्ट्र और धर्म के समन्वय सूत्र को पुष्ट बनाने वाले ऐसे अनेक ग्रन्थो का प्रकाशन कॉलिज से हो। हमारी योजना है। मुनिश्री के आशीर्वाद को हम अपना भाग्य मानते हैं। उससे हमें अपने गन्तव्य पर पहुँचने की सदैव प्रेरणा मिलेगी। लेखक के लिए क्या लिखें, उन्हे जितना धन्यवाद दिया जाय थोड़ा होगा। उनके अनवरत परिश्रम को हम सराहे बिना नही रह सकते।

दीपचन्द जैन
मंत्री
दि० जैन कॉलिज प्रबन्ध
समिति, बड़ौत

जियालाल जैन
सभापति
दि० जैन कॉलिज प्रबन्ध
समिति, बड़ौत

वीरनिर्वाण सं० २४९६

आद्य मिताक्षर

भारतीय साहित्य विपुल और अगाध है। उसमें अनेक अनूठे, रत्न हैं, जिनमें कुछ का हमें ज्ञान हो चुका है और बहुत कुछ शेष हैं। सतत अनुसन्धान और खोज की आवश्यकता है। उसी से प्रेरित होकर इस पुस्तक के रूप में मेरा यह छोटा-सा प्रयास है। संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश के समवेत अध्ययन से मैं समझ सका हूँ कि प्रजापति ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत, भारतवर्ष नाम के मूलाधार थे। वे प्रथम चक्रवर्ती थे और उनके पीछे उनके पितामह—१४वें कुलकर नाभिराय की तथा पिता-आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव की प्रतापी परम्परा थी, जिसका उन्होंने सही अर्थों में निर्वाह किया। यह परम्परा आगे भी सहस्रों वर्षों तक अक्षुण्ण रूप से चलती रही। यह सच है कि भारत एक महान देश था। उसने वीरों को जन्म दिया तो धर्म, संस्कृति और ज्ञान को भी समुन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया। वह प्राची दिशा में जन्मा सहस्ररश्मि था।

किन्तु, यह भी सच है कि यहाँ देश-द्रोहियों, वासना-लोलुपों और नरपिशाचों का भी अभाव नहीं रहा है। उनके विश्वासघात, छल-कपट और दांव-पेचों से यह देश अधोगति को भी प्राप्त हुआ, उसे एक लम्बा समय दासता की बेड़ियों में व्यतीत करना पड़ा। फिर भी, उसकी संस्कृति का मूल इतना सुदृढ़ था कि वह गिर-गिर कर भी ऊपर उठा। सतत गिरा नहीं रह सका। यही उसकी प्राणवत्ता है। और, आज हम २२ वर्ष से स्वतन्त्र हैं। इस बीच, उसने लोक-तन्त्र के यशस्वी विधान के साथ जीवन के प्रत्येक भाग में उन्नति की है। वह उठ रहा है और पारखी मानने लगे हैं कि भारत अति शीघ्र विश्व के समुन्नत देशों में गिना जायेगा।

हमारा पौरुष जग-प्रसिद्ध था, उससे हमने न केवल भौतिक, अपितु आध्यात्मिक लक्ष्यों को भी सहज ही पा लिया था। आज हम पुनः चेते हैं तो अपना भूला पौरुष फिर प्राप्त कर लिया है। वह हममें सदैव रहा, किन्तु एक मूर्च्छना के आवरण ने ढक-भर लिया था। अब उसका अनावृत रूप एक बार पुनः इस देश को राष्ट्र-मुकुट बना देगा, ऐसा हमें विश्वास है। हममें न धैर्य की कमी है, न बुद्धि की, न शक्ति और पराक्रम की। समुन्नति को मृदु मुसकान के साथ हमारा स्वागत करना ही होगा।

'उत्साहः पौरुषं धैर्यं बुद्धिः शक्ति-पराक्रमः।
षडेते यत्र वर्तन्ते तत्र दैव सहायकः ॥'

आज की नई पीढ़ी में ये सभी गुण हैं। भारत का भाग्य समुज्ज्वल है। नई आस्थाएँ है, तो अपने राष्ट्र का परम्परानुगत खून भी है। शंका को स्थान नहीं, यह तो प्राचीन देश की एक नई करवट है, जिसका होना अनिवार्य है और शुभ भी।

मैं चाहूँगा कि इस पुस्तक के सन्दर्भ में, यदि किसी अनुसन्धित्सु को कहीं कुछ और भी प्राप्त हो, तो मुझे अवगत कराने की अनुकम्पा अवश्य करें, जिससे मैं अगले सस्करण में उसे भी सहेज कर चल सकू।

वृषभ जयन्ती
चैत्र वदी ६

डा० प्रेमसागर जैन

मोहन-जो-दरो के उत्खनन में
प्राप्त एक मानव-मूर्ति २०००–३००० ई० पूर्व

अनुमानतः यह राजवश का प्रतिनिधि चित्र है। प्रशस्त वस्त्र एव वेश विन्यास तत्कालीन (मोहन-जो-दरो कालीन) राजपरिच्छद का मानाक उपस्थित करते हैं। यदि इसे नाभिराज (कुलकर) का चित्र मान लिया जाये तो यह ऋषभदेव को राजमुकुट पहनाने के पश्चात् का चित्र है। इस सन्दर्भ मे जिनसेनाचार्य के महापुराण का कथन विचारणीय है।

नाभिराजः स्वहस्तेन मौलिमारोपयत् प्रभोः।
महामुकुटबद्धानामधिराड् भगवानिति ॥

आचार्य जिनसेन महापुराण, १६।२३२

'बहुरो रिसभ बड़े जब भये।
नाभि राज दे बन को गये ॥
रिसभ-राज परजा सुख पायो।
जस ताको सब जग में छायो ॥'

सूरदास, सूरसागर, पृ० १५०
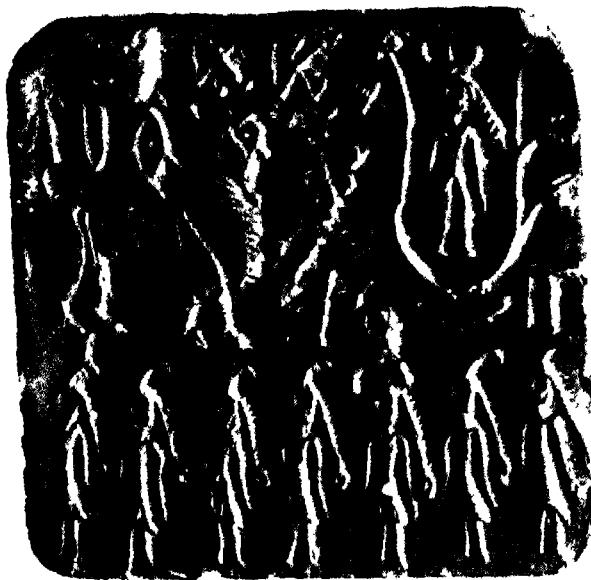
SINDH FIVE THOUSAND YEARS AGO

'मोहनजोदारो के उत्खनन से प्राप्त भगवान् वृषभदेव विषयक एक महत्वपूर्ण मुद्रा। वृषभनाथ दिगम्बर (नग्न) एवं ध्यानमुद्रा में ध्यानमग्न हैं। शिर पर त्रिशूल रत्नत्रय का प्रतीक चिह्न अंकित है। मृदुवाणी का प्रतीक कोमललता का एक पत्ता मुख के पास है। फलयुक्त कल्पवृक्ष-परिवेष्टित तीर्थंकर वृषभदेव भक्त को भक्ति के अनुसार फल प्रदाता का प्रतीक है। भक्ति से करबद्ध प्रार्थना नमस्कार निवेदन करते हुए चक्रवर्ती भरत महाराज और उनके पीछे भगवान का चरण-चिह्न बैल खड़ा है। नीचे की पंक्ति में भरत सम्राट् के सप्तांग प्रतीक (१ राजा, २ ग्रामाधिपति, ३ जनपद, ४ दुर्ग ५ भण्डार, ६ षडंगबल ७ मित्र) श्रेणीबद्ध खड़े हैं।'

इसमे अंकित कल्पवृक्ष, मृदुलता और सप्तांग को, सबसे पहले पूज्य १०८ मुनि श्री विद्यानन्द जी ने पहचाना है। उनकी पहचान का सूत्र आचार्य जिनसेन के 'महापुराण' (१८/१०), आचार्य माघनन्दि के 'शास्त्रसमुच्चयसार' (सूत्र १६, पृ० ७२) और अर्हद्दास-विरचित 'पुरुदेवचम्पू' (श्लोक-पहला) मे प्राप्त होता है।

विश्व का ८वां आश्चर्य, ५७ फीट ऊंची
बाहुबली की मूर्ति श्रवणबेलगोल, मैसूर राज्य में उत्कीर्णित

सम्राट् ऋषभदेव के दूसरे पुत्र बाहुबली थे। वे भी भरत की भाँति प्रतापी थे। उनका जन्म ऋषभदेव की द्वितीय पत्नी सुनन्दा से हुआ था। उनका शरीर कामदेव के समान सुन्दर था। इसी कारण वे गोम्मटेश कहलाते थे। वे दृढ तपस्वी और मोक्षगामी महासत्त्व थे। उनकी राजधानी तक्षशिला (पोदनपुर) मे थी।

श्रवणबेलगोल (मैसूर) मे उनकी ५७ फीट ऊँची मनोज्ञ प्रतिमा दक्षिण के महामात्य चामुण्डराय ने १००० वर्ष पूर्व उत्कीर्णित करवाई थी। केवल एक ही शिला को काट कर इसका निर्माण किया गया था, यही विशेषता है। इसके वीतराग अग-सौष्ठव और मनोज्ञता को भारतीय अथवा पाश्चात्य जिस-किसी ने भी देखा, सराहा है। इसके महामस्तकाभिषेक का मगलानुष्ठान आयोजित कर धर्मानुरागी जन व्याधियो को पराभूत करने मे समर्थ होते है। यह मूर्ति विश्व का आठवा आश्चर्य मानी जाती है।
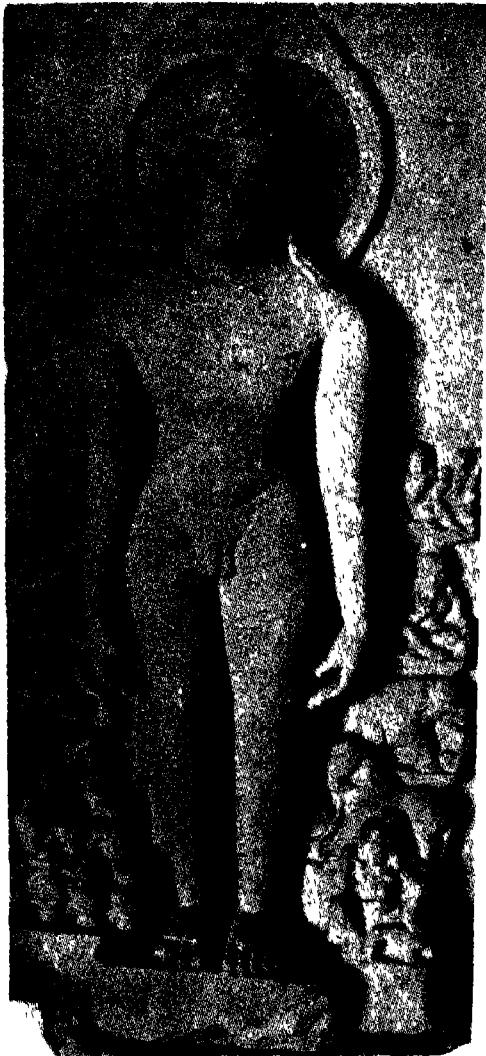
ध्यानमग्न कायोत्सर्ग मुद्रा मे
उत्कीर्णित, देवगढ़ के उत्खनन में
प्राप्त भरत की प्राचीन प्रतिमा। चरणो के निकट
नव निधि के प्रतीक ६ कलश अंकित हैं।

: १ :

आमुख

(नाभिखण्ड : अजनाभवर्ष)

'वृषभो जगज्ज्येष्ठः पुरुः पुरुगुणोदयैः ।
नाभेयो नाभिसम्भूतिरिक्ष्वाकुकुलनन्दनः ॥'
—भगवज्जिनसेनाचार्य, आदिपुराण—१०

अत्यन्त प्राचीन युग मे इस आर्यभूमि पर महाराजा नाभि राज्य करते थे। वे १४ कुलकरों मे अन्तिम कुलकर थे।[1] अन्तिम होते हुए भी दीर्घायु, समुन्नत शरीर, अप्रतिम रूप-सौन्दर्य, अपार बल-विक्रम और विपुल गुणो के कारण सब-से-अग्रिम थे।[2] श्रीमद्भागवत् मे उन्हे आदिमनु स्वायम्भुव के पुत्र प्रियव्रत और प्रियव्रत के आग्नीध्र तथा आग्नीध्र के नौ पुत्रो में ज्येष्ठ माना है।[3] महाराजा नाभि अपने विशिष्ट ज्ञान, उदार गुण और परमैश्वर्य के कारण कुलकर अथवा मनु कहलाते थे। सर्वप्रथम उन्होंने ही उत्पन्न बालकों के नाभि-नाल को शस्त्र-क्रिया से पृथक् करने का परिज्ञान दिया।[4] शायद उनके नाम 'नाभि' का यह ही रहस्य हो। उन्हें हुए कितना युग बीता कहा नही जा सकता।

उनका युग एक संक्रान्तिकाल था। जब सिंहासन पर बैठे, भोगभूमि थी। कल्पवृक्ष फलते थे। अपराध-वृत्ति का अभाव था। सभी में पारस्परिक सद्भाव था। प्रत्येक का मनोवांछित फल कल्पवृक्षो से प्राप्त हो जाता था, तो

---

१. प्रतिश्रुति, सन्मति, क्षेमंकर, क्षेमन्धर, सीमंकर सीमन्धर, विमलवाहन, चक्षुष्मान, यशस्वान, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजित और नाभिराय।
—त्रिलोकसार ७९२-९३.

२. पूर्वोक्त कुलकृत्स्वन्त्यो नाभिराजोऽग्रिमोऽप्यभूत् ।
व्यावर्णितायुरुत्सेधरूप सौन्दर्य विभ्रमः ॥ महापुराण, ११।६, पृ० २४६.

३. प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वायम्भुवस्य यः ।
तस्याग्नीध्रस्ततो नाभिः ऋषभस्तत्सुतः स्मृतः । —भागवतपुराण ११।२।१५

४. "तम्हि काले होदि हु बालाणं णाभिणालमइदीहं । तक्कत्तणो वदेसं कहदि मणू ते पकुव्वंति ।" —तिलोयपण्णत्ति ४।४६६

असद्वृत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता था। किन्तु, उनके जीवनकाल में ही भोग-भूमि समाप्त हो गयी। कल्पवृक्ष नि.शेषप्राय: हो गये। कर्मभूमि का आरम्भ हुआ। नये प्रश्न थे, नये हल चाहिए थे। नाभिराय ने धैर्य-पूर्वक उनका समाधान दिया। वे स्वयं त्राण-सह बने। उन्हें क्षत्रिय कहा गया। 'क्षत्रियस्त्राणसह:' उन पर चरितार्थ होता था। आगे चल कर 'क्षत्रिय' शब्द नाभि' अर्थ मे रूढ़ हो गया। अमर कोषकार ने 'क्षत्रिये नाभि:' लिख कर सन्तोष किया।[1] आचार्य हेमचन्द्र ने भी 'अभिधान चिन्तामणि' में 'नाभिश्च क्षत्रिये' लिखा है।[2] उन्होंने अपने पुरुषार्थ से सद्युग को जन्म दिया। प्रजा सुखी बनी और भोगभूमि के समान ही उसे सर्वविध सुविधाएँ प्राप्त हुईं। महाराजा नाभिराय स्वयं कल्पवृक्ष हो गये। भगवज्जिनसेनाचार्य ने महापुराण में लिखा है, "चन्द्र के समान वे अनेक कलाओं की आधारभूमि थे, सूर्य के समान तेजवान थे, इन्द्र के समान वैभवसम्पन्न थे और कल्पवृक्ष के समान मनोवांछित फलों के प्रदाता थे।[3]" उन्होंने युग-प्रवर्तन किया। आज कल की मोटी परतें भी उनके नाम को नामशेष नहीं कर सकी। वे उसके (काल) वक्ष पर तप्तशलाका से स्पष्ट लिखे रहे, रज.कणो मे अभ्रक-पत्र से, दिशाओं मे सूर्य-से और आकाश मे ध्रुव नक्षत्र से दमकते रहे। कोई मिटा न सका। वे जीवित हैं, केवल वैदिकों मे नही, अपितु मुसलमानों मे भी। अरबी का एक शब्द है 'नबी', जिसका अर्थ होता है—'ईश्वर का दूत', 'पैगम्बर' और 'रसूल'।[4] वह शब्द संस्कृत के 'नाभि' और प्राकृत के 'णाभि' का ही रूपान्तर-मात्र है। इसका अर्थ है कि उनका नाम बना ही नही रहा, अपितु 'ईश्वर के दूत' के रूप मे और भी चमकीला बना।

उनके नाम पर ही इस आर्यखण्ड को नाभि खण्ड या अजनाभवर्ष कहा गया। नाभि को अजनाभ भी कहते थे। स्कन्दपुराण मे, "हिमाद्रिजलधेरन्त-

---

और

"नाभिश्च तन्नाभिनिकर्तनेन प्रजासमाश्वासन हेतुरासीत्।"

—महापुराण, ३।१३७.

१. अमरकोष, ३।५।२०.

२. अभिधान चिंतामणि, १।३६.

३. शशीव स कलाधार: तेजस्वी भानुमानिव। प्रभु शक्र इवाभीष्ट फलद: कल्पशाखिवत्
महापुराण, १२।११.

४. 'उर्दू-हिन्दी कोश', रामचन्द्र वर्मा सम्पादित, हिन्दीग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, चतुर्थ संस्करण, अगस्त १९५३, पृष्ठ २२४.

नाभिखण्ड मिति स्मृतम्" आया है।[1] इस पंक्ति का विश्लेषण करते हुए डा० अवधबिहारी लाल अवस्थी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप' में लिखा, "सप्त द्वीपों वाली पृथिवी में जम्बूद्वीप अत्यन्त प्रसिद्ध भूखण्ड था। आद्य प्रजापति मनु स्वायम्भुव के पुत्र प्रियव्रत दस राजकुमारों के पिता थे। उनमें तीन तो सन्यासी हो गये थे और सात पुत्रों ने सात महाद्वीपों में आधिपत्य प्राप्त किया। ज्येष्ठ आग्नीध्र जम्बूद्वीप के राजा हुए। उनके नौ लड़के जम्बूद्वीप के स्वामी बने। जम्बूद्वीप के नौ वर्षों में-से हिमालय और समुद्र के बीच में स्थित भूखण्ड को आग्नीध्र के पुत्र नाभि के नाम पर ही नाभिखण्ड कहा गया।"[2] नाभि को अजनाभ भी कहते थे। इसी कारण नाभिखण्ड को अजनाभवर्ष भी कहा गया। 'मार्कण्डेय पुराण: सांस्कृतिक अध्ययन' के एक पाद-टिप्पण मे डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है, "स्वायम्भुव मनु के प्रियव्रत, प्रियव्रत के पुत्र नाभि, नाभि के ऋषभ और ऋषभदेव के सौ पुत्र हुए, जिनमे भरत ज्येष्ठ थे। यही नाभि अजनाभ भी कहलाते थे, जो अत्यन्त प्रतापी थे और जिनके नाम पर यह देश अजनाभवर्ष कहलाता था।[3] श्री मद्भागवत मे भी "अजनाभ नामैतद्वर्षभारतमिति यत् आरम्य व्यपदिशन्ति।' लिखा है।[4] इसका अर्थ है कि अजनाभवर्ष ही आगे चल कर 'भारतवर्ष' इस संज्ञा से अभिहित हुआ। भगवज्जिनसेनाचार्य ने अपने आदिपुराण मे, "कालसन्धि के समय, इसी जम्बूद्वीप मे विजयार्धपर्वत से दक्षिण की ओर आर्यखण्ड में नाभिराज हुए और उनके नाम पर इस खण्ड को नाभिखण्ड कहा गया।"[5] ऐसा उल्लेख किया है।

महाराजा नाभिराय को उदयाद्रि और महारानी मरुदेवी को प्राचीदिशा अनेक आचार्यों ने कहा, क्योंकि उनसे सूर्य-से भास्वर तीर्थङ्कर ऋषभदेव का जन्म हुआ था। जिनसेनाचार्य ने आदिपुराण मे लिखा है, "यो नाभिराज: सत्य त्वम् उदयाद्रिमहोदय: । देवी प्राच्येव यज्ज्योति: युष्मत्त: परमुद्बभौ ॥"[6]

---

१. स्कन्दपुराण, १।२।३७।५५.
२. 'प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप', डा० अवधबिहारीलाल अवस्थी, कैलाश प्रकाशन, लखनऊ, सन् १९६४, पृष्ठ १२३ परिशिष्ट २.
३. 'मार्कण्डेय पुराण: सांस्कृतिक अध्ययन', डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पादटिप्पण संख्या-१ पृ० १३८.
४. श्रीमद्भागवत, ५।७।३
५. महापुराण, ३२।८.
६. महापुराण, १४।८१.

इसका अर्थ है कि हे नाभिराज ! यह सच है कि आप उदयाचल हैं और देवी पूर्व दिशा हैं, यह पुत्र रूपी परमज्योति आप से ही उत्पन्न हुई है। एक दूसरे स्थान पर आचार्य जिनसेन ने ही लिखा है कि इस विषय में नाभिराय सब से अधिक पुण्यवान और मरुदेवी पुण्यवती हैं, क्योंकि ऋषभदेव-जैसे स्वयम्भू पुत्र उनसे ही उत्पन्न होंगे।[1] ऋषभदेव अनुपम थे और उन्हें मरुदेवी-जैसी मां ही जन्म दे सकती थी, प्राची दिशा ही सूर्य को जन पाती है, अन्य नहीं। आचार्य मानतुंग ने अपने 'भक्तामर स्तोत्र' में इस चित्र को काव्यात्मक ढंग से उकेरा है—

> "स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्
> नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
> सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं
> प्राच्येव दिक् जनयति स्फुरदंशुजालम् ॥"[2]

इस श्लोक में भक्त कवि ने अपने श्रद्धापुष्प मा मरुदेवी के चरणो मे बिखेरे हैं। तीर्थंकर को जन्म देने वाले माता-पिता कम पूज्य नही होते। जगत ऐसे दम्पत्ति के चरणों मे सदैव श्रद्धावनत होता ही है, जिनका पुत्र अपने पौरुष और बल-विक्रम से उसे इहलौकिक और पारलौकिक दोनों सुख प्रदान करता है। ऋषभदेव का जन्म दो युगों की सन्धिवेला मे हुआ था—भोगभूमि का अंत और कर्मभूमि का प्रारम्भ। महाराजा नाभिराय—जो भोगभूमि या (श्री जयशंकर प्रसाद की दृष्टि मे) देवसृष्टि के अवशिष्ट अंश थे—ने बहुत कुछ सुलझाया, किन्तु नया-नया उठता ही जा रहा था। जब उन्होंने इस सबके समाधान में ऋषभदेव को पूर्ण समर्थ देखा तो प्रजाओं को उन्ही के पास भेजना प्रारम्भ कर दिया।[3]

---

१. स एव पुण्यवाल्लोके सैव पुण्यवती सती। ययोरयोनिजन्मासौ वृषभो भवितात्मजः ॥ —महापुराण, १२।६७.

२. भक्तामरस्तोत्र, २२वां श्लोक.

३. तन्महाध्यान्मनोवृत्ति बधाना व्याकुलीकृताम्।
नाभिराजमुपासेदुः प्रजा जीवित काम्यया ॥
नाभिराजाज्ञया स्रष्टुस्ततोऽन्तिकमुपाययुः।
प्रजाः प्रणतमूर्द्धानो जीवितोपायलिप्सया ॥

महापुराण, १६।१३३-३४, पृ० ३५८

कल्पवृक्ष समाप्त हुए तो उदरपूर्ति की समस्या विकट हो गई। किसी को अन्न उत्पन्न करने का ज्ञान नहीं था। ऋषभदेव ने सर्वप्रथम इक्षुदण्डों के उपयोग की विधि बतलाई। उनसे रस निकालना सिखाया। इक्षुदण्ड स्वयं-प्रसूत थे। उनका उपयोग आसान था। शायद इसी कारण उन्हें इक्ष्वाकु कहा गया। महापुराण में लिखा है, "आकानाच्च तदिक्षूणां रससंग्रहणे नृणाम्। इक्ष्वाकुरित्यभूद् देवो जगतामभिसम्मतः[1] ॥" आवश्यकचूर्णि में 'अकु भक्खणे' कहा गया है।[2] इस प्रकार 'इक्खु' और 'अकु' मिल कर 'इक्खागो' प्राकृत में और 'इक्ष्वाकु' संस्कृत में बनता है। आवश्यक निर्युक्ति में "सक्को वंसट्ठवणे इक्खु अगू तेण हुन्ति इक्खागो।"[3] लिखा है। साथ ही, ऋषभदेव ने विधि-पूर्वक कृषि-कर्म का उपदेश दिया,[4] जिससे आर्यों के जीवन की मुख्य समस्या का समाधान हुआ। आर्य कृषि-जीवी कहलाने लगे। उससे वे सम्पन्न और समृद्ध बने। कृषि का मुख्य साधन वृषभ था। उसकी प्रतिष्ठा पर सबसे अधिक बल दिया गया, यहाँ तक कि ऋषभदेव ने अपना नाम वृषभदेव गौरवास्पद माना। आगे चल कर 'वृषभ' शब्द श्रेष्ठ अर्थ का पर्यायवाची हो गया। भले ही 'कल्पसूत्र' में भगवान् के ऋषभदेव नाम का मूलाधार माँ मरुदेवी का स्वप्न-दर्शन और भगवान् की जांघों के रोमों के मध्य अंकित वृषभ चिह्न रहा हो,[5] किन्तु मैं तो इसका श्रेय उनके कृषि-दर्शन को ही देना चाहूँगा। कृषि ही एक ऐसा साधन था, जिसने कर्मभूमि को साध लिया। ऋषभदेव ने अपनी सूक्ष्म और दूरन्देशी दृष्टि से उसके महत्व को भांपा होगा। उस समय कृषि का एकमात्र वाहन था वृषभ, अतः उसको समादरणीय घोषित किया। एतदर्थ उन्होंने अपना नाम वृषभ रक्खा। आज पुरातत्त्वज्ञ वृषभलाञ्छन से ही ऋषभदेव की मूर्त्तियों को पहचान पाते हैं। साम्प्रतिक भारत भी केवल कृषि से सर्वाधिक सम्पन्न राष्ट्र बन सकता है।

---

१. महापुराण, १६।२६४.

२ आवश्यक चूर्णि, पृ० १५२.

३ आवश्यक निर्युक्ति, गा० १८६.

४. "प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुः।
शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।."
स्वयम्भूस्तोत्र, श्लोक दूसरा

५. "पूर्वस्वप्नसमये वृषभस्यदर्शनात्, पुत्रस्योभयोर्जङ्घयो, रोम्णाम् आवर्तभ्रमणावलोकाद् वृषभस्याकारस्यलाञ्छनाद् नाभिकुलकरेण 'ऋषभः' इति नाम दत्तम्।"
कल्पसूत्र, व्या० ७, पृ० १४२ कल्पद्रुमकलिका.

भगवज्जिनसेनाचार्य ने 'पुरु पुरुगुणोदयैः' कह कर भगवान् ऋषभदेव का स्मरण किया है। इसका अर्थ है कि बहुत अधिक गुण होने के कारण उन्हें पुरु कहा जाता था। वस्तुतः पालन और पूरण-उभयगुणात्मक होने से ऋषभदेव का पुरु नाम सार्थक था। वह क्षात्रधर्म के प्रथम प्रवर्त्तयिता थे।[1] प्रजाओं का रक्षण क्षात्रधर्म है। अनिष्ट से रक्षा तथा जीवनीय उपायों से प्रतिपालन ये दोनों गुण प्रजापति ऋषभदेव मे विद्यमान थे।[2] इसी कारण उनकी 'पुरुदेव' संज्ञा सार्थक थी। उन्होने असि, मषी, कृषि, विद्या, वाणिज्य, शिल्प इन षड्विध जीवनोपायो का उपदेश देकर प्रजा को समृद्धि का मार्ग दिखाया।[3] अपनी ब्राह्मी और सुन्दरी कन्याओ को अक्षर और अंक विद्या का ज्ञान कराया।[4] आज भी विश्व में ब्राह्मी लिपि प्राचीनतम मानी जाती है। भारत और एशिया महाद्वीप की प्रायः सभी लिपियों मे जो समानता दिखाई देती है, उसका मूल कारण यही है कि वे सब ब्राह्मी लिपि से निकली हैं।[5]

ऋषभदेव के शतपुत्रो मे भरत ज्येष्ठ थे। विनीत, उदार, क्षत्रियगुणोपेत। श्रीमद्भागवत के अनुसार वे परम भागवत (भगवद्भक्त) भी थे। प्रजापति ऋषभदेव ने उन्हें पृथ्वी के पालन-पोषण का भार सौंपा। पिता के अनुशासन मे सुदृढ रहते हुए ही उन्होंने अद्वितीय सुन्दरी कन्या पाञ्चजनी से विवाह किया।[6] भरत प्रथम चक्रवर्ती थे। उन्होने षट्खण्ड पृथ्वी को जीता और

---

१. "आद्येन वेधसा सृष्टः सर्गोऽयं क्षत्रपूर्वकः।"—महापुराण, ४२।६
"क्षात्रो धर्मो ह्यादिदेवात् प्रवृत्तः पश्चादन्ये शेषभूताश्च धर्माः।"
—महाभारत, शान्तिपर्व, १२।६४।२०.

२. "ऋषभ पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम्।" ब्रह्माण्डपुराण, २।१४,

३. "कृष्यादि कर्मषटकं च स्रष्टा प्रागेव सृष्टवान्।
कर्मभूमिरियं तस्मात्तदासीत्तद्व्यवस्थया ॥" आदिपुराण
और
"असिर्मषी कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च।
कर्माणीमानि षोढास्युः प्रजाजीवन हेतवः ॥" आदिपुराण, १६।१७९

४ "लेहं लिवीविहाणं जिणेण बम्भीए दाहिणकरेण।
गणियं संखाणं सुन्दरीए वामेण उवइट्ठं ॥"
अभिधान राजेन्द्रकोश, भाग २, 'उसभ' प्रकरण, पृष्ठ ११२६.

५. देखिये 'कन्नड साहित्य का इतिहास', सिद्ध गोपाल काव्यतीर्थ, पृष्ठ ६.

६. "भरतस्तु महाभागवतो यदा भगवतावनितल परिपालनाय।
सञ्चिन्तितस्तदनुशासनपरः पाञ्चजनीं विश्वरूपदुहितरमुपयेमे।"
भागवत, ५।७।१.

जैनशास्त्रानुसार भरत की पटरानी का नाम सुभद्रा था।

समुद्रपर्यन्तायाः पृथिव्याः एकराट् सम्राट बने। प्रजा की चिन्ता उनकी अपनी चिन्ता बनी। उन्होंने अपने पिता और पितामह के समान ही वात्सल्यभाव से सब कुछ किया। वे महान थे—वीर्यवान, धर्मज्ञ, सत्यवक्ता, दृढ़व्रती, शस्त्र और शास्त्रों के ज्ञाता, निग्रह और अनुग्रह मे समर्थ तथा सम्पूर्ण प्राणियों के हितैषी। वे वैभव-सम्पन्न होते हुए भी वैरागी थे। उनका मन ससार से विरक्त था। अन्त मे दैगम्बरी दीक्षा[1] लेते ही उन्हे केवलज्ञान हो गया। उन्होंने एक साथ राग और विराग, भोग और योग, ससार और मोक्ष का जैसा आदर्श उपस्थित किया, फिर इस धरा पर कोई न कर सका। वे अद्वितीय थे। उन्हीं के नाम से यह देश अजनाभवर्ष के स्थान पर भारतवर्ष हुआ।

चक्रवर्ती भरत के पुत्र शतश्रृग के आठ पुत्र और नवी कुमारिका नाम की पुत्री थी। वराहपुराण के अनुसार इन्ही के नामो पर भारत के नौ भेद हुए, जिन्हे नवद्वीप भी कहा जाता है। नवा द्वीप ही कुमारीद्वीप या कुमारिकाखण्ड था, जिसे भारत भी कहते थे, ऐसा 'प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप' में लिखा है।[2] इससे प्रतीत होता है कि 'भारतवर्ष' एक बृहत्तर भारत था और कुमारीद्वीप या भारत उसका एक खण्ड-मात्र था। इस खण्ड मे कितने देश शामिल थे, विद्वान ऊहापोह करते रहे हैं। यहा तो इतना ही अभीष्ट है कि अजनाभवर्ष से भारतवर्ष और भारतवर्ष से भारत, यह इस देश के नाम की परम्परा रही है और वह महाराजा नाभिराय के प्रतापी वशधरो के नामो पर आवृत थी।

---

१. "षट्खण्डाधिपतिश्चक्री परित्यज्य वसुन्धराम्।
तृणवत् सर्वभोगांश्च दीक्षा दैगम्बरी स्थितः॥"
आचार्य कुलभद्र, सारसमुच्चय–१९६.

२. 'भारत का भौगोलिक स्वरूप', डॉ० अवधबिहारीलाल अवस्थी, कैलाश प्रकाशन, लखनऊ, १९६४, परिशिष्ट २, पृष्ठ १२३-२४.

: २ :

भरत और भारत

सन् १९४७ में जब यह देश स्वतन्त्र हुआ, इसके दो प्रसिद्ध नाम आम जनता में प्रचलित थे—इण्डिया और हिन्दुस्तान। ईसा से ३७६ वर्ष पूर्व यूनानियों ने भारत पर आक्रमण किया था। वे अपने लहजे के कारण पंजाब के सिन्धु नदी को 'इण्डस्' कहते थे। इसी आधार पर इण्डिया नाम प्रचलित हुआ। अंग्रेजों ने भी इसे ही अपनाया। अंग्रेजो के शासन-काल मे यह अधिकाधिक चला। इसके पूर्व 'हिन्दुस्तान' नाम सर्व प्रचलित था और अब भी है। अरब के व्यापारियो को अपने मार्ग में अवस्थित सिन्धु-जैसे बड़े नद को पार करना पडता था। 'स' का उच्चारण न कर सकने के कारण वे उसे 'हिन्दु' कहते थे और इस देश को हिन्दुस्तान। बाद के यवन आक्रमणकारी भी इसी नाम को प्रयोग मे लाने लगे। उनके प्रशासन मे इसी नाम ने आदर पाया, यहाँ तक कि वैदिक-पौराणिक धर्मानुयायी इसी आधार पर अपने को 'हिन्दू' कहने लगे। 'हिन्दू' और 'हिन्दुस्तान' यहाँ की धूल में भिद कर रह गये। किन्तु, १८ सितम्बर १९४९ की विधानपरिषद् की बैठक ने उपर्युक्त दो नामो मे से एक भी स्वीकार नही किया। वे विदेशियो के द्वारा दिए गए नाम थे। उनके साथ इस देश की गुलामी का इतिहास नत्थी था। अतः स्वतन्त्र देश ने अपना पुरातन नाम 'भारत' अपनाया।

'भारतवर्ष' नाम किन्ही भरत के नाम पर पडा था, इतना तो सहज सिद्ध ही है। किन्तु वे कौन से भरत थे? एक कठिन प्रश्न है। इस पर अभी तक विद्वान अनुसन्धित्सु जूझते रहे है। तीन प्रसिद्ध भरत हुए। एक थे—ऋषभदेव के पुत्र भरत, दूसरे थे दौष्यन्ति भरत और तीसरे थे राम-भ्राता भरत। राम के भाई भरत कभी राजसिंहासन पर नहीं बैठे। अतः उनके आधार पर इस देश के नामकरण का प्रश्न नही उठता। कतिपय विद्वानो ने दौष्यन्ति भरत के नाम को मूलाधार स्वीकार किया है। यह स्वाभाविक था। कालिदास के 'शाकुन्तलम्' की विश्व-व्यापी ख्याति ने दौष्यन्ति भरत को

जन-मानस में प्रतिष्ठित कर दिया। उसी को लोग इस देश के 'भारत' नाम का मूलमंत्र मान बैठे। यहाँ तक कि साहित्येतिहास के प्रामाणिक विद्वान् डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने भी अपने ग्रन्थ 'भारत की मौलिक एकता' में ऐसा ही लिख डाला।[1] वे भी क्या करते जब उनके बहुत पूर्व सायण ऋग्वेद-संहिता के भाष्य मे यही भूल कर बैठे थे। उन्होंने भरत की व्याख्या 'दौष्यन्ति भरत' लिख कर की थी।[2] किन्तु प्राचीन साहित्य इस बात की साक्षी नही दे पाता। उसके अनुसार तो, ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत 'भारत' नाम के आधार थे।

अग्निपुराण प्राचीन ग्रन्थ है। इसे भारतीय विद्याओ का विश्वकोश कहा जाता है। इसके ३८३ अध्यायो मे नाना प्रकार के विषयों का सन्निवेश है। धर्म, ज्योतिष, राजनीति, आयुर्वेद, अलकार, छन्द, व्याकरण, योग, वेदान्त आदि कोई विषय बचा नहीं है। इसके सम्बन्ध मे 'आग्नेये हि पुराणेऽस्मिन् सर्वा विद्याः प्रदर्शिताः' कथन पूर्ण सत्य है। इस ग्रन्थ मे एक स्थान पर 'भरत और भारत' से सम्बन्धित कुछ पक्तियाँ हैं—

जरामृत्युभयं नास्ति धर्माधर्मौ युगादिकम्
नाधर्मं मध्यमं तुल्या हिमादेशात्तु नाभितः।
ऋषभो मरुदेव्यां च ऋषभाद् भरतोऽभवत्
ऋषभोऽदात् श्री पुत्रे शाल्यग्रामे हरिं गतः।
भरताद् भारतं वर्षं भरतात् सुमतिस्त्वभूत्॥

अग्निपुराण १०।१०-११

उस हिमवत् प्रदेश (भारतवर्ष को पहले हिमवत प्रदेश कहते थे) मे जरा (बुढापा) और मृत्यु का भय नही था, धर्म और अधर्म भी नही थे। उनमें माध्यम, सम भाव था। वहाँ नाभिराजा से मरुदेवी में ऋषभ का जन्म हुआ। ऋषभ से भरत हुए। ऋषभ ने राज्यश्री भरत को प्रदान कर सन्यास

---

१. भारत की मौलिक एकता, पृ० २२-२४.

२. देखिये, ऋग्वेद ६।१६।४ का सायणाचार्य कृत भाष्य,

"हे अग्नेय ! त्वां भरतो दौष्यन्तिरेतत्संज्ञको राजा वाजिभिर्वाजो हविर्लक्षणमन्ने सहद्भिः ऋत्विग्भिः सह हिता—इष्टप्रापदनिष्टपरिहारद्विविधरूपेण सुम्नं सुखमुद्दिश्य ईडे स्तुतवान्।"
—पूना संस्करण, ३ भाग

ले लिया। भरत से इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ। भरत के पुत्र का नाम सुमति था।

भरत-सम्बन्धी उल्लेख मार्कण्डेय पुराण मे भी उपलब्ध होता है। मार्कण्डेय ऋषि इसके रचयिता थे। शकराचार्य ने अपने 'वेदान्तसूत्रभाष्य' में इसके दो श्लोकों का उद्धरण दिया है, इससे स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ ८वीं सदी से पूर्व का है। पश्चिमी विद्वान भी इसे बहुत प्राचीन मानते हैं। पार्जिटर महोदय ने अग्रेजी में इसका अनुवाद किया था। इसके प्रारम्भिक अध्याय जर्मन भाषा मे भी अनूदित मिलते हैं। यह पुराण अत्यधिक लोकप्रिय हुआ। इसका एक अश 'दुर्गासप्तशती' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमे १३८ अध्याय और ६००० श्लोक हैं। इसमे लिखा है—

"आग्नीध्र सूनोर्नाभिस्तु ऋषभोऽभूत् द्विज:।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद् वरः॥
सोऽभिषिच्यार्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थित.।
तपस्तेपे महाभागः पुलहाश्रम-संश्रयः॥
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः॥"

मार्कण्डेयपुराण ५०।३६–४२

आग्नीध्र के पुत्र नाभि से ऋषभ उत्पन्न हुए, उनसे भरत का जन्म हुआ, जो अपने सौ भाइयो मे अग्रज था। ऋषभ ने ज्येष्ठ पुत्र भरत का राज्याभिषेक कर महाप्रव्रज्या ग्रहण की और पुलह आश्रम मे उस महाभाग्यशाली ने तप किया। ऋषभ ने भरत को हिमवत् नामक दक्षिण प्रदेश शासन के लिए दिया था, अतः उस महात्मा भरत के नाम से इस प्रदेश का नाम भारतवर्ष हुआ।

ब्रह्माण्डपुराण 'भूगोल' विषय की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें जम्बूद्वीप आदि द्वीपो, नदियो, पर्वतो और नक्षत्रो आदि का रोचक वर्णन है। वायु ने व्यास जी को इस पुराण का उपदेश दिया था, इसलिए इसे 'वायवीय सब्रह्माण्ड पुराण' भी कहते हैं। ईसवी सन् ५वीं शती मे इस पुराण को ब्राह्मण लोग जावा द्वीप ले गये थे, जहाँ उसका जावा की प्राचीन भाषा में अनुवाद

प्राप्त होता है। इससे उसकी प्राचीनता सिद्ध ही है। इस ग्रन्थ के तीसरे पाद में भारतवर्ष के प्रसिद्ध क्षत्रियवंशों का वर्णन आया है। एक स्थान पर भरत और भारत के सम्बन्ध मे कथन है—

> नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं मरुदेव्यां महाद्युति।
> रिषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम्॥
> रिषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः।
> सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थित.॥"
> हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत्।
> तस्मात् भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः॥
>
> —ब्रह्माण्डपुराण, पूर्व० २।१४

नाभि ने मरुदेवी मे महाद्युतिवान् ऋषभ नाम के पुत्र को जन्म दिया। ऋषभदेव पार्थिवश्रेष्ठ और सब क्षत्रियो के पूर्वज थे। उनके सौ पुत्रो मे वीर भरत अग्रज थे। ऋषभ ने उनका राज्याभिषेक कर महाप्रव्रज्या ग्रहण की। उन्होने भरत को हिमवत् नाम का दक्षिणी भाग राज्य करने के लिए दिया था और वह प्रदेश आगे चल कर भरत के नाम पर ही भारतवर्ष कहलाया। वायुपुराण के पूर्वार्ध (३०।५०–५३) में भी हू-बहू ऐसा ही उल्लेख मिलता है।

नारदपुराण मे भी उन भरत को ऋषभदेव का ही पुत्र बतलाया है, जिनके नाम पर इस देश को भारतवर्ष कहते हैं। नारदपुराण से तात्पर्य 'बृहद्नारदीय' पुराण से है। यद्यपि डॉ० विलसन इसे १६वी शती का मानते हैं, किन्तु बल्लालसेन (१२वी शताब्दी) ने अपने दानसागर नाम के ग्रन्थ में इस पुराण के श्लोक उद्धृत किये हैं। अलबेरुनी (११वी शताब्दी) ने भी अपने "यात्रा-विवरण" में इसका उल्लेख किया है। अत. इन दोनो से प्राचीन तो है ही। यह पुराण विष्णुभक्ति का मुख्य ग्रन्थ है। इसमे एक उद्धरण है—

> "आसीत् पुरा मुनिश्रेष्ठः भरतो नाम भूपति।
> आर्षभो यस्य नाम्नेदं भरतखण्डमुच्यते॥५॥
> स राजा प्राप्तराज्यस्तु पितृपितामहः क्रमात्।
> पालयामास धर्मेण पितृवद्रञ्जयन् प्रजाः॥६॥"
>
> नारदपुराण, पूर्वखण्ड, अध्याय ४८

पूर्व समय में, मुनियों में श्रेष्ठ भरत नाम के राजा थे, वह ऋषभदेव के पुत्र थे और उन्ही के नाम से यह देश भारतवर्ष कहा जाता है। उस राजा भरत ने राज्य प्राप्त कर, अपने पिता-पितामह की तरह से ही, धर्म-पूर्वक प्रजा का पालन-पोषण किया था।

'लिंगपुराण' शिवतत्त्व की मीमांसा की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमे १६३ अध्याय और ११००० श्लोक हैं। उनमें भगवान् शंकर के २८ अवतारो का वर्णन है। शैवव्रत और शिवलीलाओं का भी विस्तार से विवेचन है इस पुराण में 'भरत और भारत' के सम्बन्ध में लिखा है—

नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं मरुदेव्यां महामतिः।
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम्॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः।
सोऽभिषिच्याथ ऋषभो भरतं पुत्रवत्सलः॥
ज्ञाने वैराग्यमाश्रित्य जित्वेन्द्रियमहोरगान्।
सर्वात्मनात्मन्यास्थाप्य परमात्मानमीश्वरम्॥
नग्नोऽजटो निराहारोऽचीवरो ध्वान्तगतो हि सः।
निराशास्त्यक्तसंदेहः शैवमाप परं पदम्॥
हिमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत्।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः॥

लिंगपुराण, ४७।१६-२३

महामति नाभि को मरुदेवी नाम की धर्मपत्नी से 'ऋषभ' नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह ऋषभ पार्थिवों (नृपतियो) में उत्तम था और सम्पूर्ण क्षत्रियो-द्वारा सुपूजित था। ऋषभ से भरत की उत्पत्ति हुई, जो अपने सौ भ्राताओ मे अग्रजन्मा था। पुत्र-वत्सल ऋषभदेव ने भरत को राज्यपद पर अभिषिक्त किया और स्वय ज्ञान-वैराग्य को धारण कर, इन्द्रियरूप महान सर्पों को जीत कर, सर्वभाव से ईश्वर परमात्मा को अपनी आत्मा में स्थापित कर तपश्चर्या में लग गये। वह उस समय नग्न थे, जटा-रहित, निराहार, वस्त्र-रहित तथा मलिन थे। उन्होने सब आशाओं का त्याग कर दिया था। संदेह का परित्याग कर परम शिवपद को प्राप्त कर लिया था। उन्होंने हिमवान्

के दक्षिण भाग को भरत के लिए दिया था। उसी भरत के नाम से विद्वान् इसे भारतवर्ष कहते हैं।

'स्कन्दपुराण' एक बृहत्काय ग्रन्थ है। इसकी छः संहिताओं में ८१००० श्लोक हैं। इस पुराण मे एक स्थान पर जगन्नाथजी के मन्दिर का भी वर्णन है। इसे ही आधार मान कर कुछ पाश्चात्य विद्वान् इसकी रचना १३वीं शताब्दी के आसपास मानते हैं। किन्तु इस पुराण की एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति (सन् १००८ ई०) कलकत्ता मे मिली है। उससे भी अधिक प्राचीन प्रति—७वी शताब्दी की लिखी हुई नैपाल के राजकीय पुस्तकालय में मौजूद है। डा० हरप्रसाद शास्त्री ने वहाँ के सूचीपत्र में ऐसा उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ में भारतवर्ष के नामकरण का जिक्र आया है—

> नाभेः पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।
> तस्य नाम्ना त्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते ॥
>
> —स्कन्दपुराण, माहेश्वर खण्डस्थ कौमारखण्ड, ३७।५७.

नाभि का पुत्र वृषभ और ऋषभ से भरत हुआ। उसी के नाम से यह देश भारत कहा जाता है।

'श्रीमद्भागवत्' भक्ति का अमर स्रोत है। श्री वल्लभाचार्य जी 'भागवत्' को महर्षि व्यासदेव की 'समाधि भाषा' कहते हैं, इसका अर्थ है कि व्यास जी ने भागवत् के तत्त्वों का वर्णन समाधि दशा मे अनुभूत करके किया था। 'श्रीमद्भागवत्' का व्यापक प्रभाव पड़ा। रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, चैतन्यमहाप्रभु आदि की भक्ति साधनाओं का मूलाधार भागवत् ही था। 'तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहित नैष्कर्म्यमाविष्कृतम्' वाली बात भागवत् पर पूर्णरीत्या चरितार्थ होती है। इस महिमामय ग्रन्थ मे भरत की पूर्ण वंशावली दी है और इस देश के नामकरण का मूलाधार भी बताया है।

> 'येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठ गुणआसीत् ।
> येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति ॥"
>
> श्रीमद्भागवत् ५।४।९.

श्रेष्ठ गुणों के आश्रयभूत, महायोगी भरत अपने सौ भाइयों में ज्येष्ठ थे, उन्हीं के नाम पर इस देश को भारतवर्ष कहते हैं।

इसी सन्दर्भ में सार्थ एकनाथी भागवत् का कथन भी उद्धृत करना अयुक्त नहीं होगा। उसमे लिखा है—

"ऐसा तो रिषभाचा पुत्र। जयासी नांव भरत।
ज्याच्या नामाची कीर्ति विचित्र। परम पवित्र जगामाजी॥
तो भरतु राहिला भूमिकेसी। म्हणोनि भरतवर्ष म्हणती यासी।
सकल कर्मारम्भी करितां संकल्पासी। ज्याचिया नामासी स्मरतासी॥
—सार्थ एकनाथी भागवत् २।४४।४५.

ऋषभदेव के पुत्र भरत ऐसे थे, जिनकी कीर्ति सारे संसार मे आश्चर्यजनक रूप से फैली हुई थी। भरत सर्व पूज्य हैं। कार्य आरम्भ करते समय भरत जी का नाम स्मरण किया जाता है। ऐसे भरत के नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा।

सूरदास हिन्दी के प्रसिद्ध कवि थे। उन्होने सूरसागर की रचना की थी। सभी विद्वानो ने उस पर श्रीमद्भागवत् का प्रभाव स्वीकार किया है। उसके पंचम् स्कन्ध मे 'ऋषभावतार' का प्रसग आया है। उसमे 'भरत और भरत-खण्ड' का भी उल्लेल है। लिखा है—

बहुरो रिषभ बड़े जब भये। नाभि राज दे बन को गये॥
रिषभ राज परजा सुख पायो। जस ताको सब जग में छायो॥
रिषभ देव जब बन को गये। नवसुत नवो खण्ड नृप भये॥
भरत सो भरत खण्ड को राव। करे सदा ही धर्म अरु न्याव॥
—सूरसागर, पंचम् स्कन्ध, पृ० १५०।५१

शिवपुराण में 'शकर' से सम्बन्धित महत्वपूर्ण मान्यताएँ स्थापित की गई हैं। जैसे, वह आर्य थे या अनार्य। दसवीं संहिता मे मुनि-पत्नियों के कथानक से इस पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। इस पुराण में २४००० श्लोक हैं। शैवदर्शन के तत्वो को भली भांति समझाया गया है। बीच-बीच मे शिव और पार्वती से सम्बन्धित नाना कथाओं की अवतारणा है। इस ग्रन्थ में भरत से सम्बन्धित एक स्थल है—

नाभेः पुत्रश्च वृषभो वृषभाद् भरतोऽभवत् ।
तस्य नाम्ना त्विदं वर्षं भारत चेति कीर्त्यते ॥

—शिवपुराण ३७।५७.

नाभि का पुत्र वृषभ और वृषभ के पुत्र भरत हुए। उनके नाम से इस वर्ष (देश) को भारतवर्ष कहते हैं।

'महापुराण' मे भी वृषभ और भरत से सम्बद्ध अनेक उद्धरण मौजूद हैं। महापुराण भगवज्जिनसेनाचार्य का ख्यातिप्राप्त ग्रन्थ है। इसकी रचना इसवी सन् ९वी शती मे की गई थी। अब तो यह ग्रन्थ भारतीय ज्ञान पीठ की मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला से, हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित हो चुका है। इसमे एक स्थान पर लिखा है—

ततोऽभिषिच्य साम्राज्ये भरतं सूनुमग्रिमम् ।
भगवान् भारतं वर्षं तत्सनाथं व्यधादिदम् ॥

—महापुराण १७।७६

इसके पश्चात् भगवान् वृषभनाथ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र का साम्राज्याभिषेक किया तथा भरत से शासित प्रदेश भारतवर्ष हो, ऐसी घोषणा की।

इसी ग्रन्थ मे एक दूसरे स्थान पर भरत और भारत दोनो के नाम की सार्थकता बतलाई गई है। वह इस प्रकार है—

प्रमोदभरत प्रेमनिर्भरा बन्धुता तदा।
तमाह्वद् भरत भावि समस्त भरताधिपम्
तन्नाम्ना भारतं वर्षमिति हासीज्जनास्पदम् ।
हिमाद्रेरासमुद्राच्च क्षेत्रं चक्रभृतामिदम् ॥

—महापुराण, १५।१५८।५९

समस्त भरत क्षेत्र के उस भावि अधिपति को आनन्द की अतिशयता से प्रगाढ़ स्नेह करने वाले बन्धु समूह ने 'भरत' ऐसा कह कर सम्बोधन दिया-पुकारा। उस भरत के नाम से हिमालय से समुद्र पर्यन्त यह चक्रवर्तियों का क्षेत्र भारतवर्ष नाम से लोक में प्रतिष्ठित हुआ।

'मत्स्यपुराण' एक विस्तृत ग्रन्थ है। इसके २९१ अध्यायों में १५००० श्लोक निबद्ध है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में मनु और मन्वन्तर का विशद विवेचन है। ५३वें अध्याय में सम्पूर्ण पुराणों की विषयानुक्रमणी दी गई है, इसी कारण यह पुराण विशेष महत्त्व रखता है। इसके अतिरिक्त, ऋषियों के वंश-वर्णन, राजधर्म का सैद्धान्तिक विवेचन और प्रतिमा-लक्षण आदि के कारण भी इस ग्रन्थ की विशेषता आँकी जाती है। यह एक ऐसा पुराण है जो भरत से भारत बना, यह तो मानता है, किन्तु इन भरत को ऋषभदेव का पुत्र नहीं बताता। उसके अनुसार मनुष्यों के आदिम जनक मनु ही प्रजाओं के भरण और रक्षण के कारण 'भरत' संज्ञा से अभिहित होते थे। उसमे लिखा है—

भरणात् प्रजानाच्चेव मनुर्भरत उच्यते।
निरुक्ति वचनैश्चैव वर्ष तद् भारतं स्मृतम्।

—मत्स्यपुराण ११४।५-६.

इस कथन पर विचार करते हुए आचार्य बलदेव उपाध्याय ने अपने ग्रन्थ 'पुराण विमर्श' में लिखा है, "प्रतीत होता है कि यह प्राचीन निरुक्ति के ऊपर किसी अवान्तर युग की निरुक्ति का आरोप है। प्राचीन निरुक्ति के अनुसार स्वायम्भुव मनु के पुत्र थे प्रियव्रत, जिनके पुत्र थे नाभि। नाभि के पुत्र थे ऋषभ, जिनके एक शत पुत्रो मे-से ज्येष्ठ पुत्र भरत ने पिता का राजसिंहासन प्राप्त किया और इन्हीं राजा भरत के नाम पर यह देश अजनाभ से परिवर्तित होकर भारतवर्ष कहलाने लगा। जो लोग दुष्यन्त के पुत्र भरत के नाम पर यह नामकरण मानते है, वे परम्परा विरोधी होने से, अप्रमाण है।"[1] इससे सिद्ध है कि मत्स्यपुराण की मौजूदा निरुक्ति वास्तविक निरुक्ति नही है। पुरानी और निरुक्ति के अनुसार ऋषभदेव के पुत्र भरत ही प्रजाओ का अच्छा भरण-पोषण करने के कारण भरत कहलाते थे, स्वायम्भुव मनु नही। पूर्व विवेचित महापुराण के कथन—'प्रमोदभरतः प्रेमनिर्भरा बन्धुता तदा' से भी ऐसा ही प्रमाणित होता है।

इस संदर्भ में श्रीमद्भागवत् का एक उद्धरण अत्यधिक महत्वपूर्ण है। उसमें लिखा है, "भगवान् ऋषभ देव ने कहा है कि हे पुत्रो! आप सब मेरे

---

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय, पुराणविमर्श, सप्तम परिच्छेद, प्रकाशक चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी-१, १९६५.

प्रिय पुत्र हो। मेरे पश्चात् सब भाई अपने ज्येष्ठ भ्राता भरत का हृदय से समादर करना तथा सरलमति से इसकी सेवा करना। यह मेरा ज्येष्ठ पुत्र प्रजाओं के भरण-पोषण रूप सेवा-कार्य करने के कारण 'भरत' नाम से विख्यात होगा।" इस अर्थ को बताने वाला श्लोक है—

"तस्माद् भवन्तो हृदयेन जाताः
सर्वे महीयांसममुं सनाभम्।
अक्लिष्टबुद्धया भरतं भजध्वं
शुश्रूषणं तद्भरणं प्रजानाम्॥"

—भागवत, ५।५।२०

प्रसिद्ध विद्वान डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने दौष्यन्तिपुत्र भरत से 'भारत' के नामकरण की बात कही थी। अपनी इस भूल को सुधारते हुये उन्होने 'मार्कण्डेयपुराण: सांस्कृतिक अध्ययन' मे लिखा, "मैंने अपनी 'भारत की मौलिक एकता' नामक पुस्तक मे (पृ० २२—२४) दौष्यन्ति भरत से भारतवर्ष लिख कर भूल की थी, इसकी ओर मेरा ध्यान कुछ मित्रो ने आकर्षित किया, उसे अब सुधार लेना चाहिये।"[1] अपने इस संशोधित विचार को उन्होने 'जैन साहित्य का इतिहास : पूर्वपीठिका' की भूमिका मे और भी पुष्ट कर दिया। वहाँ उन्होने लिखा है, "स्वायम्भुव मनु के प्रियव्रत, प्रियव्रत के पुत्र नाभि, नाभि के ऋषभ और ऋषभदेव के सौ पुत्र हुए, जिनमे भरत ज्येष्ठ थे। यही नाभि अजनाभ भी कहलाते थे जो अत्यन्त प्रतापी थे और जिनके नाम पर यह देश अजनाभवर्ष कहलाता था।

यही अजनाभ खण्ड पीछे भरतखण्ड कहलाया। नाभि के पौत्र भरत उनसे भी अधिक प्रतापवान् चक्रवर्ती थे। यह अत्यन्त मूल्यवान् ऐतिहासिक परम्परा किसी प्रकार पुराणो मे सुरक्षित रह गई है।"[2]

पुरुदेव चम्पू जैन साहित्य का सुललित काव्य है। जैन पाठकों के बीच उसकी ख्याति रही है। इसमे पुरुदेव (ऋषभदेव) का जीवन चरित्र साहित्यिक सांचे मे प्रस्तुत किया गया है। पुरुदेव के संदर्भ मे ही भरत और भारत का भी उल्लेख है।

---

१. देखिये 'मार्कण्डेयपुराण : सांस्कृतिक अध्ययन', पृ० १३८, पादटिप्पण-सं० १।
२. जैन साहित्य का इतिहास : पूर्वपीठिका, भूमिका, पृ० ८।

तन्नाम्ना भारतं वर्षमितीहासीज्जनास्पदम् ।
हिमाद्रेरासमुद्राच्च क्षेत्रं चक्रभृतामिदम् ।।

—पुरुदेवचम्पू—६।३२

उसके नाम से (भरत के नाम से) यह देश भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ, ऐसा इतिहास है। हिमवान् कुलाचल से लेकर लवण समुद्र तक का यह क्षेत्र चक्रवर्तियों का क्षेत्र कहलाता है।

'वसुदेवहिण्डी' जैन प्राकृत का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके लेखक धर्मसेन-गणि अच्छे विचारक थे। उन्होंने इस ग्रन्थ में 'वसुदेवचरित' लिखा है। वह कुछ श्रुतनिबद्ध था और कुछ आचार्य परम्परा-गत। संघदास वाचक ने 'वसुदेवहिण्डी' के प्रथमांश मे कहा है कि सुधर्म स्वामी ने जम्बू से प्रथमानुयोग-गत तीर्थंकर-चक्रवर्ति-यादववंश प्ररूपणा-गत वसुदेवचरित कहा। इसमे एक स्थान पर भगवान् ऋषभदेव, उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत के नाम पर भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ, ऐसा उल्लेख है—

"इहं सुरासुरेन्द्र विंदवंदिय चलनारविंदो उसभो नाम पढमो राया जग-प्पिया महो आसी। तस्स पुत्तसयं। दुवे पहाणा भरहो बाहु बलीय। उसम-सिरी पुत्तसयस्स पुरसयं च दाऊण पव्वइयो। तत्थ भरहो भरहवासचूड़ामणि, तस्सेव नामेण इह भारहलवासं ति पव्वुच्चति।"

—वसुदेवहिण्डी, प्र० ख०, १८६ पृ०

अर्थ—यहाँ जगत्पिता ऋषभदेव प्रथम राजा हुए। सुर और असुर दोनो ही के इन्द्र उनके चरण कमलो की वन्दना करते थे। उनके (ऋषभदेव) के सौ पुत्र थे। उनमे दो प्रसिद्ध थे—भरत और बाहुबली। ऋषभदेव शतपुत्र ज्येष्ठ को राज्यश्री सौंप कर प्रव्रजित हो गये। भारतवर्ष का चूड़ामणि (शिरोमुकुट) भरत हुआ। उसी के नाम से इस देश को भारतवर्ष, ऐसा कहते हैं।

'जम्बू द्वीपपण्णति' एक प्रसिद्ध जैन ग्रन्थ है। इसमे जम्बू द्वीप का साधिकार विवेचन किया गया है। इसके 'भरतक्षेत्राधिकार' में भारतवर्ष के नामकरण के सम्बन्ध में लिखा है, "भरहे अहत्थदेवे नहिड्ढिए महज्जुए जावपलि ओव-महिइए परिवसइ। से एएणट्ठेणं गोयमा। एवं वुच्चइ भरहेवासं।" इसका अर्थ

है—इस क्षेत्र में एक महर्द्धिक महाद्युतिवंत, पल्योपमस्थिति वाले भरत नाम के देव का वास है। उसके नाम से इस क्षेत्र का नाम भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ। इसी 'अधिकार' मे एक दूसरे स्थान पर लिखा है, "भरत नाम्नश्चक्रिणो देवाच्च भारत नाम प्रवृत्तं भारतवर्षाच्च तयोर्नाम।" अर्थात्, भरतचक्रवर्ती और देव के नाम से भारतवर्ष का नामकरण हुआ और भारतवर्ष से उनका। स्पष्ट है कि यहाँ भरतचक्रवर्ती ही देव हैं। यह उनका वृद्धकृत प्रभाव ही था। और, पहले से ऋषभदेव के पुत्र भरत का प्रसंग था, अतः ऋषभदेव-पुत्र भरत ही समझना अभीष्ट होगा। उन्हीं के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ।

इसके अतिरिक्त जैनो के सभी पुराण ग्रन्थ ऋषभदेव के पुत्र भरत को ही 'भारतवर्ष' नाम का मूलाधार मानते हैं। उनकी तो परम्परा ही यह है। उसमे दुविधा नही है और न दो मत हैं। किन्तु वैदिक परम्परा भी ऐसा ही मानती है, यह उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध ही है।

एक बात रह जाती है, राजा तो बहुत हुए—प्रतापशाली और यशस्वी, किन्तु उनके नाम पर इतने बड़े देश का नामकरण हुआ, ऐसा कम ही देखने को मिलता है। यह देश जो पहले अजनाभ था हैमवत कहलाता था, भरत के उपरान्त 'भारतवर्ष' नाम से प्रसिद्ध हो गया और आज तक है। इससे प्रमाणित है कि भरत भारतीय सम्राटों की मौक्तिक माला में इन्द्रमणि थे। इसका एकमात्र कारण था कि उनमे शारीरिक बल था तो आध्यात्मिक शक्ति भी। भरत दोनो के समन्वय स्थल पर 'मानस्तम्भ की भाँति खड़े थे। उनका मन-वचन-काय एक था। उन्होने हृदय से प्रजा-पालन किया और उसे समुन्नति के शिखर पर दिया पहुँचा। उन्होंने इससे भी बड़ा काम यह किया कि सांसारिक व्यापार करते हुए भी उस सबसे असंलग्न रहे, निःसंग रहे, अनासक्त रहे। यही कारण था कि मुनि-दीक्षा के लिए अगरखे की गाँठ खोलते ही उन्हें केवल ज्ञान हो गया। ३२००० रानियो के पति होते हुए भी भरत वैरागी कहे जाते थे। वे राग में निरक्त थे किन्तु उनका मन वीतरागता की ओर मुड़ा हुआ था। अतः रागी होते हुए भी वे वीतरागी थे। ऋषभदेव को अपने

इस पुत्र पर पूर्ण विश्वास था। उन्होंने पहले ही कह दिया था कि भरत प्रजाओं के पालन-पोषण में समर्थ प्रमाणित होगा।

ऋषभदेव की आस्था के अनुरूप ही न्याय-नीतिपूर्वक भरत ने शासन किया और यही कारण था कि दिग्विजय करने मे उसे देर नहीं लगी। षट्-खण्डों को जीतकर उन्होंने वृषभाचल पर अपने विजयलेख उत्कीर्ण करवाये, उन्हें गन्धर्व बालाये गुण-स्तवन के रूप मे गाती थी। इन्द्र की सभाओ में अप्सराओं के नृत्य और लय मे उन्ही की तान होती थी। वेत्रवती के तट पर सिद्धवधुयें उन्ही का वीणा-वादन करती थी। लोक-लोक में उनका यश विस्तृत हो उठा—

मनुश्चक्रभृतामाद्यः षट्खण्डभरताधिप.।
राजराजोऽधिराट् सम्राडित्यस्योद्घोषितं यशः॥
नन्दनो वृषभेशस्य भरतः शातमातुरः।
इत्यस्य रोदसी व्याप्य शुभ्रा कीर्तिरनश्वरी॥

—महापुराण, ३७।२०-२१

भरत का यश विश्व मे मनु, चक्रवर्तियो मे प्रथम, षट्खण्ड भरतक्षेत्र के अधिपति, राजराज, अधिराट् और सम्राट् के रूप मे उद्घोषित हो गया था। इस प्रकार वृषभेश के नन्दन, शतभ्राताओं मे ज्येष्ठ और प्रजाओ के सुपालक भरत की शुभ्रा, अनश्वरी कीर्त्ति पृथ्वी और स्वर्ग को व्याप्त करने लगी।

कीर्त्ति ही नहीं, लक्ष्मी और सरस्वती, जो आपस में सदैव द्वेषभाव रखती हैं, एक-दूसरे पर क्रोध करती हैं, वे भी भरत को प्राप्त कर अत्यन्त प्रेम-पूर्वक रहने लगीं। हेमचन्द्राचार्य ने लिखा है—

श्री वाग्देव्यै कुप्यति वाग्देवी द्वेष्टि संततं लक्ष्म्यै।
भरतमनुगम्य साम्प्रतमनयोरात्यन्तिकं प्रेम॥

त्रिष० हेम० १।२।१६०

भरत के चरित्र ने लोगों के हृदयो में अलौकिक भावनाओ को जन्म दिया था। उनके मन मे यह धारणा जम गई थी कि भरत के चरित्र को सुनने या सुनाने मात्र से कामनायें स्वतः पूर्ण हो जाती हैं। वे भरत को साधारण जन नहीं मानते थे, अपितु अतिमानव। तदनुरूप शक्ति-सम्पन्न वे थे भी।

जन-जन का विश्वास किसी सुदृढ़ आधार पर टिका था। भागवत में एक स्थान पर लिखा है, 'हे राजन्! भगवद्भक्ति से युक्त, निर्मल गुण, कर्मशील राजर्षि भरत का चरित्र कल्याणप्रद आयु का संवर्धक, धनाभिवर्द्धक, यशः-प्रदायी तथा स्वर्ग-अपवर्ग का कारणभूत है।' इसी ग्रन्थ में एक दूसरे स्थान पर कथन है—

आर्षभस्येह राजर्षेर्मनसापि महात्मनः।
नानुवर्त्माहंति नृपो मक्षिकेव गरुत्मत: ॥
यो दुस्त्यजान् दारसुतान् सुहृद्राज्यंहृदिस्पृशः।
जहौ युवैव मलवदुत्तमश्लोकलालसः ॥

—भागवत ५।१४।४२-४३

हे राजन्! राजर्षि भरत के विषय मे पण्डित जन कहते हैं कि जैसे गरुड की बराबरी कोई मक्षिका नही कर सकती, उसी प्रकार महात्मा भरत के मार्ग का अनुसरण कोई अन्य राजा मन से भी नहीं कर सकता। अर्थात् उन्होंने जिस तरह शासन किया, कोई अन्य नही कर सकता। उन उत्तमश्लोक भरत ने दुस्त्यज स्त्री-पुत्र, मित्र और राज्य की लालसाओ को मलवत् त्याग दिया।

'पम्परामायण' कन्नड का प्रसिद्ध और लोकप्रिय ग्रन्थ है। आज भी वहाँ का जन मानस उसमे वैसी ही पूज्य बुद्धि रखता है जैसी कि यहाँ का 'राम-चरितमानस' मे। पम्प ने रामायण के साथ-साथ आदिपुराण की भी रचना की। दोनो की समान ख्याति थी। दोनों मे जनमानस रुचा था। पम्प का यश उनके जीवनकाल मे ही चतुर्दिक् मे व्याप्त हो गया था। उन्हें कविचक्रवर्ती कहा जाता था। उनका जन्म आज से १००० वर्ष पूर्व हुआ था, किन्तु उनके ग्रन्थ काल-सीमा को लाँघ कर अमर हो गए हैं। आदिपुराण मे भरत के प्रताप का वर्णन आया है—

"पुरुपरमेश्वरपुत्रं भरतेश्वरचक्रवर्तिबविर्दंत—
धरणि निवासिगळुं व्यंतरामरर्
बंदु काणबुववनतमकुटर् ॥"

—कवि चक्रवर्ती पम्प, आदिपुराण १०७

अर्थ—पुरु परमेश्वर श्री आदि जिनेश्वर के पुत्र भरत चक्रवर्ती व्यन्तरदेव, अमरेन्द्र तथा पृथ्वीतल के समस्त मुकुटबद्ध राजाओं से वंदित थे।

इसी ग्रन्थ में आगे चल कर भरत को चरमशरीरी और प्रतापवान् कहते हुए लिखा गया है—

> पुरुपरमेश्वरपुत्रं चरमांगं चक्रर्वात यं बोडे पेवल् ।
> बोरे पेणरार् भरतनोले ने करगिबुवा गर्वपर्वतं मागधना ॥
>
> —आदिपुराण, ३१८

अर्थ—पुरु परमेश्वर श्री आदि जिनेश्वर के ज्येष्ठपुत्र चक्रवर्ती भरत चरमशरीरी थे, जिनके प्रताप के समक्ष भरत खण्ड के सभी राजा-महाराजाओं का गर्व नष्ट होता था।

चरमशरीरी का तात्पर्य है कि उसी भव से वे मोक्ष गये। इसका अर्थ है कि उन्होने सांसारिक वैभव शक्ति और सामर्थ्य के साथ उपात्त किये और उन्हें त्यागते भी विलम्ब नही लगाया। संसार मे रहते भी उनका मन ससार से उदासीन था, यह सच है। वे सही अर्थो मे राजर्षि थे। मन का मुडना ही सब कुछ है। वह मुड गया तो जीव मोक्षगामी हो ही जाता है। भरत का मन मुडा तो उन्हे क्षणमात्र मे केवलज्ञान हो गया। 'भरतेश वैभव' के भोग विजय मे लिखा है—

> पुरुपरमेशन हिरियकुमारनु । नरलोक कोब्बने राय ।
> मुरिदु कण्णिवूरे क्षण के मुक्तिय कांब । भरतचक्रिय हेल्लवने ॥
>
> —भरतेश वैभव, प्र० भा०, भोगविजय २०

अर्थ—पुरु परमेश्वर भगवान् आदिनाथ के ज्येष्ठपुत्र भरत नरलोक के एकमात्र चक्रवर्ती सम्राट् थे। क्षणमात्र मे दृष्टि बन्द करने से ही उन्हे मोक्ष प्राप्त हो गया था। उनका क्या वर्णन करूँ।

भरत का जितना मन दिग्विजय करने में लगा, उतना ही धर्म में भी, जितना ब्रह्माण्ड में लगा, उतना ही ब्रह्म में। यदि उन्होने दश दिशाओं को जीता तो कैलाश पर्वत पर अत्यन्त सुन्दर बहत्तर चैत्यालयों का निर्माण भी करवाया। केवल भौतिक चैत्य ही नही, अपितु उनका आत्मचैत्य भी प्रति-

भासित हो उठा था । अर्थात् उन्होंने दिग्विजय करने के उपरान्त धार्मिक कृत्य कोरी यश प्राप्ति के लिए नही किये । आत्मा में एक प्रकाश उद्भासित हो उठा था । उसी का परिणाम था चैत्य निर्माण । 'धर्मामृत' एक कन्नड़ ग्रन्थ है । उसमें लिखा है—

भरतेश्वरनष्टापद गिरियोल् लेसागि सभेद चैत्यावलियं ।

तरलाक्षिगे बण्णिसुतु पुरुपरमेश्वरन् चरितेयं केलिसुतुं ॥

—धर्मामृत १० आश्वास २६

अर्थ—श्री भरत चक्रवर्ती द्वारा निर्मित अत्यन्त सुन्दर बहत्तर चैत्यालय जैसे कैलाश पर्वत पर सुशोभित हो रहे हैं, उसी प्रकार उस धनश्री के मन मे सम्पूर्ण चैत्यालय प्रतिबिम्बित हो रहे हैं ।

ऐसा ही विवेचन गुणभद्राचार्य के उत्तरपुराण मे भी प्राप्त होता है । भरत प्रथम चक्रवर्ती थे, फिर भी उनका मन ससार से नितात विरक्त था । यही कारण था कि उन्हें एक मुहूर्त्त मे केवल ज्ञान हो गया । उत्तरपुराण मे लिखा है—

आदितीर्थकृतो ज्येष्ठपुत्रो राजसु षोडशः ।

ज्यायांश्चक्री मुहूर्तेन मुक्तोऽयं कैस्तुलां व्रजेत ॥

—उत्तरपुराण, ४७।४६, पृ० ४४६

अर्थ—वह भरत, भगवान् आदिनाथ का ज्येष्ठ पुत्र था, सोलहवा मनु था, प्रथम चक्रवर्ती था और एक मुहूर्त्त मे ही मुक्त हो गया था (केवलज्ञानी हो गया था) इसलिए वह किसके साथ सादृश्य को प्राप्त हो सकता था ? अर्थात् किसी के साथ नहीं, वह सर्वथा अनुपम था ।

भरत का मन विश्व से मुड गया था, यह सच है, किन्तु उन्होने ससार के प्रति अपने कर्त्तव्य-निर्वाह मे कभी कोई कमी नही की, यही कारण है कि उन्हें अनुपम कहा जाता है । विश्व भर का भरण-पोषण उन्होने मन से किया और युगों-युगो तक उनका नाम बना रहा । यहाँ तक कि इसी कारण उन्हे सोलहवा मनु कहा जाता है । नाभिराय अन्तिम कुलकर थे और अन्तिम मनु, किन्तु ऋषभदेव और उनके बाद भरत ने भी वही काम प्रतिभा, मनस्विता और

सुदृढ़ता से सम्पन्न किया, अतः उन्हें भी मनु कहा जाता है। भगवज्जिनसेनाचार्य (९वीं शती ईसवी) ने महापुराण में लिखा है—

> नाभिश्च तन्नाभिनिकर्तनेन प्रजासमाश्वासनहेतुरासीत् ।
> सोऽजीजनत्तं वृषभं महात्मा, सोऽप्यग्रसूनुं मनुमादिराजम् ॥
>
> —महापुराण ३।२३७

अर्थ—पुत्रोत्पत्ति के समय नाभि के नाल को काटने का उपाय सिखाने के कारण नाभिराय प्रजाओं के समाश्वासन के हेतु बने। उन्होंने वृषभ-जैसे महात्मा को जन्म दिया और वृषभदेव के ज्येष्ठपुत्र आदिराजा भरत भी मनु हुए।

इसी को एक दूसरे स्थान पर महापुराणकार ने 'वृषभो भरतेशश्च तीर्थ चक्रभृतौ मनुः' (३/२३२) कहा है। इसका अर्थ है कि वृषभदेव मनु और तीर्थङ्कर थे, भरतेश चक्रवर्ती और—'मनु' संज्ञा से अभिहित होते थे।

महात्मा तुलसीदास ने उस व्यक्ति को 'भरत' के समान कहा है जो संसार का सुचारु ढग से 'भरन-पोषन' करता है। उन्होने 'रामचरितमानस' मे लिखा है—

> 'बिस्वभरन पोषण कर जोई । ताकर नाम भरत अस होई ।।'
>
> —रामचरितमानस १।१९७।७

भरत ने केवल पालन-पोषण ही नही किया, अपितु प्रजाओ को 'कुलधर्म' और 'अर्हन्त की पूजा' आदि के ढग मे भी निष्णात बनाया। ऐसा जिनसेनाचार्य ने महापुराण में स्पष्ट किया है—

> कुलधर्मोऽयमित्येषामर्हत् पूजादिवर्णनम् ।
> तदा भरत राजर्षिरन्वबोधदनुक्रमात् ।।
>
> —महापुराण—२८।२५

अर्थ—राजर्षि भरत ने अनुक्रम से, यह कुलधर्म है और यह अर्हन्त की पूजादि का ढग है, बतलाया।

विजयी प्रमत्त होता है, ऐसा नीतिकारों ने कहा है, किन्तु दसो दिशाओं की शानदार जीत भी भरत को मदोन्मत्त न बना सकी और वे जिनेन्द्र की पूजा-

अर्चा करना न भूले । उन्होंने यज्ञ किया, चक्र लेकर चले और दिग्विजय कर लिया । किन्तु, लौटते समय कैलाश पर्वत पर जिनेन्द्र की वन्दना विस्मरण न कर सके । दोनों अनुभूतियों का विवेचन 'प्रतिष्ठासारोद्धार' में प्राप्त होता है ।

जिने यज्ञं करिष्याम इत्यध्यवसिताः किल ।
जित्वा दिशो जिनानिष्ट्वा निर्वृत्ता भरतादयः ॥
—प्रतिष्ठासारोद्धार—७.

कैलाश पर्वत से आदीश्वर प्रभु-वृषभदेव मोक्ष गये थे । वह एक तीर्थ-स्थल बन गया था । भरत ने वहाँ अनेक स्वर्णमयी जिनग्रहों का निर्माण करवाया । उनमे रत्नमयी प्रतिमाओ को प्रतिष्ठित करवाया । द्यानतविलास मे कविवर द्यानतराय ने इसका सुन्दर वर्णन किया है ।

फूली बसंत जहँ आदीसुर शिवपुर गये ।
भरत भूप बहत्तर जिनगृह कनकमयी सब निरमये ।।
तीन चौबीस रतनमय प्रतिमा अंगरंग जे जे भये ।
सिद्ध समान शीष सम सबके अद्‌भुत शोभा निरमये ।।
द्यानत सो कैलास नमों हों गुन का पै जात बरनये ।
—द्यानत विलास—५७

अर्थ—जहाँ भगवान् श्री आदिनाथ शिवपुर (कैवल्यधाम, निर्वाण) को प्राप्त हुए, उस कैलास पर बसन्त ऋतु फूल रही है—आनन्द उद्यान महका रहे हैं । भरत चक्रवर्ती ने बहत्तर जिनमन्दिरो का निर्माण करवाया है, वे कांचन उपकरण से निर्मित है । उन चैत्यालयो मे बहत्तर रत्नमय प्रतिमाएँ विराजमान हैं, जिनका अग रग स्वाभाविक चारुता लिये हुए हैं । अलौकिक शोभा-सम्पन्न उन समस्त प्रतिमाओ के शीर्ष सिद्ध भगवान की मुद्रा मे है । कवि द्यानतराय कहते हैं कि उस कैलास को नमस्कार है । जहाँ प्रभु को निर्वाण प्राप्त हुआ उसके गुण कौन गा सकता है ।

एक बार भरत चक्रवर्ती ने तीन बातें एक साथ सुनी—चक्ररत्न की प्राप्ति, पिता ऋषभदेव को केवल ज्ञान और पुत्र-जन्म । उन्होंने सोचा कि धर्म

के प्रसाद से ही सब शुभ सम्पत्ति प्राप्त होती है, अतः पहले जिन-पूजन किया, फिर चक्ररत्न-प्राप्ति महोत्सव और पुत्र-जन्म मंगल अनुष्ठान किया। 'जैनपद संग्रह' में कवि द्यानतराय ने इस दृश्य को चित्रित किया है—

> एक समय 'भरतेश्वर' स्वामी तीन बात सुनी तुरत फुरत।
> चक्ररतन, प्रभुज्ञान, जनम सुत, पहले कीजे कौन किरत॥
> धर्म प्रसाद सबै शुभ सम्पति जिन पूजे सब दुरत दुरत।
> चक्र-उछाह कियो सुत मंगल 'द्यानत' पायो ज्ञान तुरत॥
>
> —जैनपदसंग्रह, च० भा०—२९७

अर्थ—एक समय भरत चक्रवर्ती ने तुरत फुरत तीन वृत्तान्त सुने—उन्हें तीन ओर से तीन शुभ समाचार प्राप्त हुए। उन्हे चक्ररत्न की प्राप्ति हुई थी, कैलासगिरि पर श्री ऋषभदेव को केवल ज्ञान हुआ था और महासाम्राज्ञी ने पुत्र प्रसव किया था—वार्त्ताहरो ने, अन्तः पुरिकाओ ने तीनों बातें उन्हें सूचित कीं। चक्रवर्ती ने विचार किया कि किस कृत्य को प्रथम करना चाहिए। क्योंकि सम्पूर्ण शुभ सम्पत्ति की उपलब्धि धर्म कृपा से होती है और श्री जिनेश्वर की पूजा करने से समस्त दुरित क्षय होता है। यह विचार कर उन्होने श्री जिनेन्द्र की पूजा की, तदनन्तर चक्ररत्न-प्राप्ति महोत्सव तथा पुत्र-उत्पन्न होने के मगल कौतुक किये—यह ज्ञान-पूर्वक भरत ने समझा।

लौकिक और आध्यात्मिक का ऐसा समन्वय कोई लोकोत्तर चरित्र ही कर सकता है, दूसरा नही। ऐसे लोकोत्तर चरित्रो के सुनने और सुनाने मात्र से ही कामनाएं पूर्ण हो जाती हैं। श्री मद्भागवत् को भरत की लोकोत्तरता में पूर्ण विश्वास था। उसमे लिखा है, "हे राजन्! राजर्षि भरत के पवित्र गुण और कर्मों की भक्तजन भी प्रशसा करते हैं। उनका यह चरित्र बड़ा कल्याण-कारी, आयु और धन की वृद्धि करने वाला और अन्त मे स्वर्ग तथा मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला है। जो पुरुष इसे सुनता या सुनाता है और इसका अभिनन्दन करता है, उसकी सम्पूर्ण कामनाएं स्वयं पूर्ण हो जाती हैं, दूसरो से उसे कुछ भी नही माँगना पडता।" वह उद्धरण है—

"य इदं भागवतसभाजितावदातगुणकर्मणो राजर्षेर्भरतस्यानु चरितं स्वस्त्य-यनमायुष्यं धन्यं यशस्यं स्वर्ग्यापवर्ग्यं वानुशृणोत्याख्यास्यत्यभिनन्दति च सर्वा एवाशिष आत्मन् आशास्ते न कांचन परत इति।"

—भागवत्—५।१५।१६.

यह उनकी कर्तव्य-निष्ठा का ही परिणाम था कि भारतभूमि स्वर्ग से भी अधिक सुखदायी और मनोरम हो गई थी। 'विष्णुपुराण' एक महत्वपूर्ण पुराण है। भागवत् के बाद इसी का नाम आता है। यह वैष्णवदर्शन का मूल आलम्बन है। श्री रामानुजाचार्य ने अपने 'श्रीभाष्य' में इसके बहुत उद्धरण दिये हैं। इसमे ज्ञान और भक्ति का सामाञ्जस्य अच्छे ढग से किया गया है। विष्णु की प्रधानता होते हुए भी सकीर्णता नहीं है, ऐसा मैं मानता हूँ। तो, उस विष्णु पुराण में भरत से पालित-पोषित भारतभूमि का सौन्दर्य-विवेचन है। एक स्थान पर लिखा है—

> गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारत भूमिभागे।
> स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥
> — विष्णुपुराण—२।३।२४

देवगण भी गान करते है कि भारत भूमि मे जन्म लेने वाले लोग धन्य है। स्वर्ग और अपवर्ग कल्प इस देश मे देवता भी देवत्व को छोड कर मनुष्य योनि मे जन्म लेना चाहते हैं।

श्री मद्भागवत् मे भी भारतवासियो के सौभाग्य पर ईर्ष्या करने वाले देवो का एक चित्र है। देवगण ऐसा सोच पाते हैं कि भगवान् ने प्रसन्न होकर ही इन्हे भारत मे जन्म दिया है। उनकी इच्छा है—काश ! हमारा भी वहाँ जन्म होता। वह श्लोक है—

> अहो अमीषां किमकारिशोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वय हरिः।
> यैर्जन्म लब्धं नृष भारताजिरे मुकुन्द सेवौपयिक स्पृहा हि नः॥
> — श्री मद्भागवत, ५।१९।२१

देवता भारतीय मनुष्यों के सौभाग्य पर ईर्ष्या करते हुए कहते हैं—अहा! इन लोगो ने न जाने ऐसे कौन-से शुभ कर्म किये थे, जिनके फल-स्वरूप इन्हें भारतभूमि के प्रागण मे मानव जन्म सुलभ हुआ है। लगता है भगवान् स्वय इन पर प्रसन्न हो गये थे। भगवान् की सेवा के योग्य ऐसा जन्म पाने की इच्छा तो हमारी भी होती है।

भरत जो कुछ बन सके, वह उनके पिता-पितामह की देन थी। उनके पितामह नाभिराय तो १४ कुलकरो में-से अन्तिम कुलकर थे। कुलकर, उसे

कहते हैं जो जनता के जीवन की नई समस्याओं का सही समाधान देता है। कल्पवृक्षों के युग बाद जब कर्मभूमि का प्रारम्भ हुआ तो नये प्रश्न आये और उनके लिए मार्ग-दर्शन अनिवार्य हो गया। नाभिराय के काल मे उत्पन्न होते समय बालक की नाभि मे नाल दिखाई देने लगा, तब उन्होने नाल काटने की विधि सिखाई, इसीलिए वे नाभिराय कहलाये। किन्तु, शाश्वतकोश में लिखा है—जिस प्रकार प्राणी के अगों मे नाभि मुख्य होती है, इसी प्रकार सब राजाओ में नाभिराज मुख्य थे।[1] मेदिनी कोश मे दूसरी बात है—चक्र के मध्य मे जिस प्रकार नाभि (कौली) मुख्य होती है, इसी प्रकार सब क्षत्रिय राजाओं में नाभि मुख्य थे।[2] सब का तात्पर्य है कि नाभिराय एक प्रसिद्ध कुलकर थे। उनके नाम पर यह देश अजनाभवर्ष कहलाता था। भारतवर्ष से पूर्व इस देश का यही नाम था। भरत उन्हीं के पौत्र थे। प्रताप तो उन्हे विरासत में मिला था। फिर यदि वे उनसे भी अधिक ख्याति प्राप्त हुए तो वह उनकी परम्परा के अनुकूल ही था।

भरत के पिता सम्राट् ऋषभदेव का जैसा उन्मुक्त और व्यापक व्यक्तित्व था, वह आज भी भारत के भिन्न-भिन्न धर्मग्रन्थों मे सुरक्षित है। भिन्न-भिन्न से तात्पर्य है कि केवल जैन ग्रन्थो मे ही नही, अपितु ऋग्वेद, पुराण और भागवत् आदि मे भी। ऋग्वेद मे एक स्थान पर लिखा है कि ऋषभदेव महान पराक्रमी थे, युद्ध में अजेय थे। इन्द्र ने उन्हें युद्ध के सामान और रथ भेट किये थे।

त्वं रथं प्रभरो योधमृष्वमावो युध्यन्तं वृषभं दशद्युम्।
त्वं तुग्रं वेतसवे स चाहन्त्वं तुजिं गृणन्तमिन्द्र ! तू तो॥
—ऋग्वेद ४।६।२६।४

युद्ध सामग्री और रथ, इन्द्र ने भेट किये नहीं, करने पड़े। इन्द्र की ईर्ष्या प्रसिद्ध ही है। वह ऋषभदेव के पराक्रम से भी ईर्ष्या-दग्ध हो उठा था। एक बार उसने उनके राज्य मे वर्षा नही की, तब इन्द्र की मूर्खता पर हसते हुए ऋषभदेव ने अपनी योगमाया के प्रभाव से खूब जल बरसाया। इस आशय की ऋचा अथर्ववेद मे मिलती है—

अतिसृष्टो अपां वृषभोऽतिसृष्टा अग्नयो दिव्याः।
अथर्ववेद, १६वां काण्ड, प्रजापतिसूक्त

---

१. "प्राण्यगे क्षत्रिये नाभि. प्रधाननृपतावपि", शाश्वतकोष-५०८.

२. "नाभिर्मुख्यनपे चक्रमध्यक्षत्रिययोरपि।" मेदिनीकोश-भ वर्ग ५.

इसी प्रसंग को महाकवि सूरदास ने सूरसागर में रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। उन्होंने लिखा है—

> इन्द्र देखि ईरषा मन लायो। करिके कोध न जल बरसायो॥
> रिषभदेव तब ही यह जानी। कह्यो इन्द्र यह कहा मन आनी॥
> निज बल जोग नीर बरसायो। प्रजा लोग अति ही सुख पायो॥
>
> —सूरसागर, पृ० १५०-५१

तो ऋग्वेद-अथर्ववेद की परम्परा बतलाती है कि इन्द्र ने अपने ईर्ष्यालु स्वभाव का परिचय ऋषभदेव के विरोध मे भी प्रस्तुत किया। किन्तु, जब उसका वश न चला तो ऋषभदेव की सेवा मे दत्त-चित्त हुआ। जैन परम्परा प्रारम्भ से ही, इन्द्र को ऋषभदेव का परमभक्त मानती है। कुछ भी हो, वह ऋषभनाथ का भक्त था या बना, एक ही बात है। वह भक्त था, इतना पर्याप्त है और यह दोनो से सिद्ध है।

महाभारत ने ऋषभदेव को क्षात्रधर्म का आदिप्रवर्त्तक माना है। शेष धर्म इसके बाद प्रचलित हुए, ऐसा कथन महाभारत के शान्तिपर्व (१२।६४।२०) मे आया है—

> क्षात्रो धर्मो ह्यादिदेवात् प्रवृत्तः।
> पश्चादन्ये शेषभूताश्च धर्माः॥

ऋषभदेव सब राजाओ मे श्रेष्ठ थे और तमाम क्षत्रियों के पूर्वज थे, यह बात ब्रह्माण्डपुराण ने भी स्वीकार की है। उसका कथन है—

> 'ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्यपूर्वजम्।' २।१४.

वायुपुराण ने ऋषभदेव को महान् द्युतिवान नृपतियो में श्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण क्षत्रियो का पूर्वज कहा है।[1] इसी कारण श्री ऋषभ भगवान का राज्यकाल प्रजाओं के परम सुख का समय था। उनसे रक्षित प्रजाओ

---

१. वायुपुराण, पूर्वार्ध, ३३।५०-५१
२. ब्रह्माण्ड, अनुषंगपाद, ।१४।४६.
३. लिंगपुराण, ४७।२६.

में एक पुरुष भी ऐसा नहीं था जो अपने पास किसी वस्तु के अभाव का अनुभव करता हो। परस्पर में कोई किसी से याचना नहीं करता था। यदि याचना का प्रसंग था तो यही कि सभी अपने पार्थिव की कृपा चाहते थे।[१] उनका नाम ऋषभदेव सार्थक था। उनके सुन्दर और सुडौल शरीर, विपुल-कीर्ति, तेज, बल, ऐश्वर्य, यश, पराक्रम और शौर्य आदि गुणों के कारण पिता ने 'ऋषभ' यह नाम रक्खा। यथा—

"तस्य हि वा इत्थं वर्ष्मणा वरीयसा बृहच्छलोकेन चौजसा बलेन श्रिया यशसा वीर्य शौर्याभ्यां च पिता ऋषभ इति नाम चकार।"

—भागवत ५।४।२

ऋषभदेव अपने युग के प्रवर्त्तक थे। कल्पवृक्षों का युग समाप्त हो चुका था। अब कर्मभूमि का प्रारम्भ हो रहा था। उन्होंने अपनी प्रजा को कृषि का मन्त्र दिया। अर्थात् सबसे पहले खेती करने की विद्या ऋषभदेव ने सिखाई। इसी कारण आचार्य समन्तभद्र ने स्वयम्भूस्तोत्र के प्रारम्भ में ही लिखा है—

प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुः
शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः। १।२

अर्थ—जिन्होने प्रथम प्रजापति के रूप मे देश, काल और प्रजा-परिस्थिति के तत्वों को अच्छी तरह से जान कर, जीने की-जीवनोपाय को जानने की इच्छा रखने वाले प्रजाजनो को सब से पहले कृषि आदि कर्मों मे शिक्षित किया।

इस प्रकार उन्होने कृषि करके अन्न उत्पन्न करने की और अन्न से भोजन बनाने की विधि सिखाई। सिन्धु घाटी की खुदाई मे जौ और गेहूँ के दाने मिले हैं। अतः यह सिद्ध हो जाता है कि उस युग में कृषि प्रारम्भ हो चुकी थी। शतपथ ब्राह्मण (१।६।१।३) मे भी इसका वर्णन मिलता है। कृषि विद्या के प्रवर्त्तक होने के कारण ही ऋषभदेव ने अपना चिन्ह बैल निश्चित किया था। बैल कृषि मे सहायक था। इससे प्रमाणित हो जाता है कि ऋषभदेव ने कृषि का व्यापक प्रचार-प्रसार किया और उन्होंने उस युग की भोजन की बृहद् समस्या को निबटा लिया। डॉ० पी० सी० राय चौधरी का

१ श्रीमद्भागवत, पूर्वस्कन्ध ४।१८

अभिमत है कि भगवान् ऋषभ ने पाषाण युग के अन्त में और कृषि-युग के प्रारम्भ में जैनधर्म का प्रचार मगध में किया ।[1] शायद डॉ० चौधरी को यह विदित नहीं था कि कृषि के आविष्कर्त्ता ऋषभदेव ही थे ।

ऋषभदेव का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य था—लिपि और गणित की शिक्षा । उन्होंने अपनी पुत्री ब्राह्मी को भाषा और लिपि का ज्ञान कराया । उसी के नाम पर भारत की प्राचीन लिपि को ब्राह्मी[2] लिपि कहते हैं । भाषाविज्ञान-वेत्ताओं का कथन है कि ब्राह्मी लिपि पूर्ण और सर्वग्राह्य थी । आगे चलकर इस लिपि से अनेक लिपियो का विकास हुआ । ऋषभदेव ने अपनी दूसरी पुत्री सुन्दरी को अंको का ज्ञान करवाया । उससे गणित विद्या का प्रसार हुआ ।

गान्धर्वविद्या के प्रथम उपदेशक ऋषभदेव ही थे । आचार्य जिनसेन ने आदि पुराण मे लिखा है कि तीर्थङ्कर श्री वृषभदेव ने वृषभसेन को गीत, वाद्य तथा अर्थ-संग्रह रूप गान्धर्व विद्या का उपदेश दिया, जिसमे १०० से ऊपर अध्याय (प्रकरण) हैं ।

> विभुर्वृषभसेनाय गीत-वाद्यार्थसंग्रहम् ।
> गन्धर्वशास्त्रमाचख्यौ यत्राध्यायाः परः शतम् ॥
>
> —आचार्य श्री जिनसेन, आदिपुराण—१६।१२०

ऋषभदेव ने एक सुनियोजित व्यवस्थित रूप मे प्रजाओं को अनुशासित किया । उन्होने कर्म के आधार पर वर्गीकरण कर दिया । चतुर्वर्ण व्यवस्था के सूत्रधार बने । चाणक्य की अर्थनीति मे जिस चतुर्वर्ण व्यवस्था पर अधिकाधिक बल दिया गया है, वह ऋषभदेव से प्रारम्भ हो चुकी थी । आचार्य सोमदेव के 'नीतिवाक्यामृत' मे वर्णित चतुर्वर्णव्यवस्था चाणक्य की अर्थनीति से प्रभावित न होकर, अपनी ही पूर्व परम्परा, अर्थात् ऋषभदेव की व्यवस्था से प्रभावित थी । कुछ अनुसन्धित्सु इस सम्बन्ध में भ्रम-मूलक मान्यताएँ स्थापित कर डालते हैं । उन्हें उपर्युक्त बात पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है ।

भोगभूमि के बाद कर्मभूमि के प्रारम्भ में, धरा और धरावासियो की आवश्यकताओं के समाधान में ऋषभदेव ने जिस घोर श्रम का परिचय दिया,

---

१. Dr. P.C. Roy Chaudhary, Jainism in Bihar, P. 7. L P.

२. 'भरतस्यानुजा ब्राह्मी ।'—आचार्य जिनसेन महापुराण, ४७।१७५

वही आत्म-विद्या के पुरस्कर्त्ता होने में भी किया। वे श्रमणधारा के आदि प्रवर्तक कहे जाते हैं। 'श्रमण' शब्द मे पड़ा 'श्रम' उन्होने लौकिक और पारलौकिक दोनो ही क्षेत्रो मे सार्थक बनाया। उन्होने 'सागर वारि-वासस वसुधा वधू' का जिस रुचि से भोग किया, उतनी ही रुचि से उसका त्याग करते भी देर न लगायी। वे मोक्ष-गामी थे। आत्मवान् बने। भूख-प्यास झेली, व्रत-नियमो से चलायमान नही हुए। स्वयम्भूस्तोत्र का एक श्लोक है—

> **विहाय यः सागर-वारि-वाससं**
> **वधूमिवेमां वसुधा-वधूं सतीम् ।**
> **मुमुक्षुरिक्ष्वाकु-कुलादिरात्मवान्**
> **प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः ॥ —स्वयम्भूस्तोत्र १।३**

अर्थ—जो मुमुक्षु थे, आत्मवान् थे और प्रभु थे। जिन इक्ष्वाकु कुल के आदिपुरुष ने सती वधू को और उसी तरह इस सागर-वारि वसना वसुधा वधू को भी, जो कि सती सुशीला थी—त्याग करके दीक्षा धारण की। जो सहिष्णु हुए और अच्युत रहे।

इसी आशय से सम्बन्धित कुछ पंक्तियाँ श्रीमद्भागवत् मे भी निबद्ध हैं। उसमे लिखा है—भगवान् ऋषभदेव यद्यपि परम स्वतन्त्र होने के कारण स्वय सर्वदा ही सब प्रकार की अनर्थ परम्परा से रहित केवल आनन्दानुभव-स्वरूप और साक्षात् ईश्वर ही थे, तो भी विपरीतवत् प्रतीत होने वाले कर्म करते हुए उन्होने काल के अनुसार धर्म का आचरण करके उसका तत्त्व न जानने वालो को उसकी शिक्षा दी। साथ ही सम, शान्त, सुहृद एव कारुणिक रह कर धर्म, अर्थ, यश, संतान, भोगसुख तथा मोक्षसुख का अनुभव करते हुए गृहस्थाश्रम मे लोगो को नियमित किया।

"भगवान् ऋषभसंज्ञ आत्मतंत्रः स्वयं नित्य निवृत्तानर्थपरम्परः केवलानन्दानुभवः ईश्वर एव विपरीतवत् कर्माण्यारभमाणः कालेनानुगतं धर्ममाचरणेणोपशिक्षयन्नतद्विदां सम उपशान्तो मैत्रः कारुणिको धर्मार्थ यशः प्रजानन्दामृतावरोधेन गृहेषु लोकं नियमयत् ।" —भागवत् ५।४।१४

भागवत में ऋषभदेव-सम्बन्धी अनेकानेक उद्धरण प्राप्त होते हैं। एक स्थान पर परीक्षित ने कहा— हे धर्म तत्त्व को जानने वाले ऋषभदेव ! आप

धर्म का उपदेश कर रहे हैं। अवश्य ही आप वृषभ रूप से स्वयं धर्म हैं। अधर्म करने वाले को जो नरकादि स्थान प्राप्त होते हैं, वे ही स्थान आपकी निन्दा करने वाले को मिलते है।

धर्मं ब्रवीषि धर्मज्ञ धर्मोऽसि वृषरूपधृक्।
यदधर्मकृत. स्थानं सूचकस्यापि तद् भवेत्॥
—भागवत् १।१७।२२

श्रीमद्भागवत् मे ही, 'ऋषभ' संज्ञा का औचित्य बताते हुए ऋषभदेव का स्वय का एक कथन है कि मेरा यह शरीर दुर्विभाव्य है, अर्थात् मेरी शारीरिक आचार क्रियायें सबकी सहज समझ में नहीं आतीं। मेरे हृदय में सत्त्व का निवास है, वही धर्म की स्थिति है। मैंने धर्म-स्वरूप होकर अधर्म को पीछे धकेल दिया है, अतएव मुझे आर्य लोग 'ऋषभ' कहते है।

इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यं सत्त्वं हि मे हृदयं यत्र धर्मः।
पृष्ठे कृतो मे यदधर्मआरादतो हि मां ऋषभं प्राहुरार्याः॥
—भागवत् ५।५।१९

भागवत मे ही ऋषभदेव को अनेक योग चर्याओ का आचरण करने वाले 'कैवल्यपति' की संज्ञा से विभूषित किया है—इति नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपति. ऋषभ। (५।६।२४)। जैन ग्रन्थो मे उन्हे पद-पद पर 'योगिराट्' की सज्ञा दी गई है। योगि शब्द के समान रूप से प्रयुक्त होने पर भी, मुनि शब्द ऐसा है जो केवल ऋषभदेव के लिए प्रयोग किया गया है। अन्य किसी 'ऋषि' के लिए नही। मुनि और ऋषि दो परम्पराएँ थी, दो धाराएँ थी, जिनके मूल रूप मे अन्तर था। इन्हे ऋषि सम्प्रदाय और मुनि सम्प्रदाय भी कह सकते है। पहले कुछ समय तक तो दोनो एक दूसरे की पूरक रही, किन्तु आगे चल कर उनमे बृहदन्तर हो गया। ऋषि परम्परा मे कर्मकाण्ड, मासाहार और असहिष्णुता की प्रवृत्ति बढी तो मुनि परम्परा (श्रमणधारा) मे अहिंसा, निरामिषता और विचार सहिष्णुता बढती गई। किन्तु ये सब बाद की बातें है। पहले दोनो मे समन्वय था। गीता में 'मुनि' का प्रशंसा-मूलक एक श्लोक है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥
—भगवद् गीता, २।५६

गीता ही नहीं, ऋग्वेद मे भी मुनि धर्म के अनेकानेक मूलतत्वों का उल्लेख प्राप्त होता है। तो, पहले दोनों धाराएँ समन्वित थीं, पूरक थीं। ऋषभदेव उस समन्वय के प्रतीक ही थे। इस सम्बन्ध में डॉ० मंगलदेव शास्त्री का एक कथन दृष्टव्य है—

"ऋग्वेद के एक सूक्त (१०।१३६) मे मुनियों का अनोखा वर्णन मिलता है। उनको वातरशना:—दिगम्बर, पिशंगा वसते मला—मृत्तिका को धारण करते हुए पिंगल वर्ण और केशी—प्रकीर्ण केश, इत्यादि कहा गया है। यह वर्णन श्रीमद्भागवत् (पंचम स्कन्ध) मे दिये हुए जैनियो के आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव के वर्णन से अत्यन्त समानता रखता है। वहाँ स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि ऋषभदेव ने वातरशना श्रमणमुनियो के धर्मों को प्रगट करने की इच्छा से अवतार लिया था।"[1]

ऐसी श्रमण परम्परा भरत को प्राप्त हुई थी। उन्होने भी चक्रवर्त्ति की विभूति का भोग किया और बाद मे मोक्ष वधू भी प्राप्त की। भरत के कारण ही ऋषभदेव को लोग 'पितामह' कहते हैं। भरतखण्ड के सभी प्राणी भरत की प्रजा थी और भरत ऋषभदेव के पुत्र थे, अत: लोग ऋषभदेव को 'पितामह' संज्ञा से अभिहित करते थे। १७वी शती के प्रसिद्ध कवि बनारसीदास ने लिखा है—

भरतखण्ड के प्राणी जेते। प्रजा भरत राजा की ते ते।
भरत नरेश ऋषभ को शाखा। तातें लोग पितामह भाखा॥
—बनारसी विलास, ३८

ऋषभदेव और भरत के चरित्र में एक विशेषता थी कि उनका जीवन सार्वजनिक था, सर्वमान्य था, अखण्ड था और अबाधित था। यही कारण है कि जैन, वैदिक, वैष्णव आदि सभी सम्प्रदायो के ग्रन्थो में उनका समभाव से स्मरण किया गया है। जैन परम्परा ऋषभदेव को अपना प्रथम तीर्थङ्कर स्वीकार करती है, वैदिक परम्परा के वेद, उपनिषद् पुराण उन्हें अपना भगवान् और अवतार मानते हैं। दोनों परम्पराओं मे उनका जीवन घटना-पूर्ण और प्रभावक रहा है तथा जीवन घटनाओं में एक सीमा तक साम्य भी पाया जाता है।

---

१. भारतीय संस्कृति का विकास : औपनिषद् धारा, पृ० १८०

श्रीमद्भागवत् और अन्य पुराण ग्रन्थों के अनुसार यह सिद्ध ही है कि महायोगी भरत ऋषभदेव के शतपुत्रों में ज्येष्ठ थे और उन्हीं से यह देश भारतवर्ष कहलाया। इसके अतिरिक्त भागवत् में एक और भी आश्चर्यजनक तथ्य लिखा है—

> तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायण परायण:।*
> विख्यातवर्षमेतद् यन्नाम्ना भारतमद्भुतम्॥
>
> —११।२।१७

इसके अनुसार भरत भी परम भागवत थे और नारायण भगवान् ऋषभदेव के भक्त थे। अतएव एक ओर जहाँ जैनधर्म मे उनका अत्यन्त सम्मानयुक्त पद था, वही दूसरी ओर भागवत् जनता भी उन्हे अपना आराध्य मानती थी। इतना ही नहीं, ऋषभ और भरत इन दोनो का वंश-सम्बन्ध उन्हीं स्वायम्भुव मनु से था, जिनसे और भी ऋषियो का वंश और राजर्षियों की परम्परा प्रख्यात हुई।

लगता है, ऋषभदेव और भरत के सार्वभौम व्यक्तित्व के कारण ही सभी लोगो और सभी सम्प्रदायो का उनके प्रति आदरभाव रहा। किन्तु पश्चाद्-वर्ती काल में उनके द्वारा स्वीकृत नानाविध योगचर्याओं और मोक्षमार्ग में-से एक-एक को लेकर नाना पन्थ और सम्प्रदायो की सृष्टि हुई। धीरे-धीरे वे अपने मूलस्रोत के वास्तविक रूप और आदर्श को ही भूल गये। यदि उस मूल रूप पर थोड़ा भी विचार किया जाये तो धर्मों की इस विविधता और अनेकता मे भी एकता के बीज सन्निहित मिल जायेंगे। अनेकता में भी ऋषभदेव और भरत एकता की कड़ी बन सकते है। पन्थ और सम्प्रदायों के ये बिखरे हुए मोती ऋषभ भरत के सूत्र को पिरोकर चित्र विचित्र मणियों की एक माला के रूप मे गूथे जा सकते हैं। आवश्यकता है आग्रह छोड़कर अनेकान्त दृष्टि अपनाने की।

---

* ॐ 'नमो भगवते उपशमशीलायोपरतानात्म्याय नमोऽकिञ्चन वित्ताय ऋषि ऋषभाय नरनारायणाय परमहंसपरमगुरवे आत्मारामाधिपतये नमो नम इति॥' श्रीमद्भागवत्, ५।१९।११०

वीर भोग्या वसुन्धरा

: ३ :

क्षात्र धर्म

विगत पृष्ठों पर, अनेकानेक ग्रन्थों के माध्यम से यह सिद्ध किया जा चुका है कि भगवान् ऋषभदेव ही क्षात्र धर्म के आदि प्रवर्त्तक थे। वे स्वयं क्षत्रिय थे और उन्होंने क्षात्रधर्म का सही अर्थों में प्रवर्त्तन किया। वे ऐसा करने मे समर्थ थे, उन्होने किया। केवल पृथ्वी जीतना, शत्रुओं से लडना, हमले करना ही क्षात्रधर्म नहीं है, अपितु विषय-वासना, तृष्णा और मोह आदि जीतना भी क्षात्रधर्म है, ऐसा उन्होंने कहा। शायद इसी कारण आज क्षत्रियो को अध्यात्म विद्या का पुरस्कर्त्ता माना जाता है। जितना और जैसा युद्ध पृथ्वी जीतने के लिये आवश्यक है, उतना ही उसमे भी अधिक मोहादिक जीतने के लिये अनिवार्य है। एक का रुख बाह्य होता है और दूसरे का आन्तरिक। दूसरा प्रथम की अपेक्षा अधिक कठिन और दुरूह होता है। ऋषभदेव और भरत दोनो ने दोनो प्रकार के शत्रुओ को जीता था। क्षात्रधर्म की यही सही परिभाषा है। आगे चल कर, अनेक आचार्यों ने क्षात्रधर्म पर कुछ न कुछ लिखा, उनमे-से कतिपय की मान्यतायें यहाँ प्रस्तुत की जाती हैं।

अर्हन् बिभर्षि सायकानि
धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम् ।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं
नवाओ जीयो रुद्र त्वदन्यदस्ति ॥

—ऋग्वेद २।३३।१०.

हे अर्हत् ! तुम धर्म रूपी बाणो को, सदुपदेश रूप धनुष को तथा अनन्त ज्ञानादि रूप आभूषणों को धारण किये हो। आप जगत प्रकाशक केवल ज्ञान को प्राप्त किये हुये हो। संसार के जीवो के रक्षक हो। काम क्रोधादि शत्रुओं के लिये भयप्रद हो। आप के तुल्य बलवान् अन्य कोई नहीं है।

स्वातन्त्र्यं व्रज यासि तीरमचिरान्नो चेद् दुरन्तान्तक ।
ग्राह व्यात्तगम्भीरवक्त्रविषमे मध्ये भवाब्धेर्भवेः ॥

—आत्मानुशासनम्—४६वां श्लोक

अर्थ—तू स्वतन्त्रता का अनुभव कर, जिससे कि शीघ्र ही उस तृष्णा नदी के किनारे जा पहुँचे। यदि तू ऐसा नही करता है तो फिर उस विषय तृष्णा रूप नद के प्रवाह में बह कर दुर्दम यम रूप मगर के खुले हुए गम्भीर मुख-जैसे भयानक संसार समुद्र के मध्य जा पहुँचेगा।

आस्वाद्याद्य यदुज्झितं विषयिभिर्व्यावृत्तकौतूहलैं—
स्तद्भूयोऽप्यविकुत्सयन्नभिलषस्य प्राप्तपूर्वं यथा ॥
जन्तो किं तव शान्तिरस्ति न भवान् यावद् दुराशामिमा
मंहः संहति वीरवैरिपृतना श्री वैजयन्तीं हरेत् ॥

—आत्मानुशासनम्—५०

अर्थ—हे क्षुद्र प्राणी! जब तक तू पाप समूह वीर शत्रु की सेना की फहराती हुई ध्वजा के समान इस दुष्ट विषय तृष्णा को नष्ट नहीं कर देता है तब तक क्या तुझे शान्ति प्राप्त हो सकती है।

इहविधि चेतनराय, युद्ध करत है मोह सों।
और सुनहु अधिकाय, अबहिं परस्पर भिड़त हैं ॥

रणसिंगे बज्जहिं, कोउ न भज्जहिं, करहिं महा दोउ जुद्ध।
इत जीव हंकारहिं, निजपारवारहिं, करहु अरिन को रुद्ध ॥
उत मोह चलावै, सब दल धावै, चेतन पकरो आज।
इह विधि दोउ दल में, कल नहिं पल, करहिं अनेक इलाज ॥
'भैय्या' भगवतीदास, ब्रह्मविलास, चेतन कर्म चरित्र—१६४–६५ पृष्ठ ७१

वीर सुविवेक ने धनुष ले ध्यान का, मारिके सुभट सातों गिराये।
कुमक जो ज्ञान की सैन सब संग धँसी, मोह के सुभट मूर्च्छा समाये ॥
देखि तब युद्ध यह मोह भाग्यो तहाँ, धाय अवतहिं सब सूर जोरे।
बाँध कर मोरचे बहुरि सन्मुख भयो, लरन को हौंसतै करै निहोरे ॥
—देखिये, वही, पृष्ठ ६७, पद्य १२३वां

यशोधनमसंहार्यं क्षत्रपुत्रेण रक्ष्यताम्।
निरवनन्तो निधीन् भूमौ बहवो निधनं गताः ॥
—भगवज्जिनसेनाचार्य, महापुराण, ३५।१३०

अर्थ—क्षत्रिय पुत्र का कर्तव्य है कि वह जिसका कोई अपहरण न कर सके ऐसे यश रूपी धन की रक्षा करे। पृथ्वी को खोद कर उसमें धन गाड़ कर रखने वाले तो बहुत हुए, जो मृत्यु को प्राप्त हो गये।

कलेवरमिदं त्याज्यं अर्जनीयं यशोधनम्।
जयश्रीविजये लभ्या नाल्पोदर्को रणोत्सवः।

—महापुराण, ३५।१४४

अर्थ—यश: प्राप्ति के लिये नश्वर शरीर का परित्याग करना उचित है। मनुष्य को शरीर-रक्षा और कीर्ति-रक्षा की तुलना मे कीर्ति-रक्षा करनी चाहिये। विजय प्राप्त कर विजयश्री का वरण करना चाहिये। रणोत्सव अल्प परिणाम देने वाला नही है।

स्वदोर्भ्यां धारयन् शस्त्रं क्षत्रियानसृजद् विभुः।
क्षतत्राणे नियुक्ता हि क्षत्रियाः शस्त्रपाणयः।

—आदिपुराण, १६।२४३.

जैन मान्यता के अनुसार भोगभूमि समाप्त होने पर जब ऋषभदेव ने असि, मषी आदि जिन षट्कर्मों का प्रचलन किया था, उनमे सबसे प्रथम असि अर्थात् शस्त्र विद्या की शिक्षा दी थी। उन्होने स्वयं दोनो हाथो मे शस्त्र धारण कर जिन लोगों को शस्त्र विद्या सिखाई, उन्हे क्षत्रिय नाम भी प्रदान किया। क्षत्रिय संज्ञा का अन्तर्निहित भाव यही था कि जो हाथो मे शस्त्र लेकर दुष्टो और सबल शत्रुओं से निर्बलो की रक्षा करते हैं, वे क्षत्रिय हैं। शस्त्र विद्या की शिक्षा ही उन्होने नही दी, अपितु सर्वप्रथम उन्होने क्षत्रिय वर्ण की स्थापना भी की।

वदन्तींद्रयमस्थान राजानं नीतिवेदिन.।
कृतोन्द्रस्थान एवायं दण्डयाभावात् प्रजागुणात्।।

गुणभद्राचार्य, उत्तरपुराण, ५५।१०

अर्थ—नीतिविशारदों ने राजा को इन्द्र और यम स्थानीय कहा है। इन्द्र रूप मे वह प्रजा को अनुग्रह दान करता है तथा यम रूप मे प्रजा में स्थित अशिष्ट दुष्टो को दण्डित करता है। परन्तु राजा महापद्म प्रजाओं के लिए

केवल इन्द्र ही था क्योंकि प्रजा गुणवती थी और उसमें दण्डनीय दोषों का अभाव था ।

> खग्ग विसाहिउ जहिं लहहु पिय तहिं देसहिं जाहुं ।
> रण दुब्भिक्खें भग्गाइं विणु जुज्झें न बलाहुं ।।

हेमचन्द्राचार्य, अपभ्रंशदोहा

एक नायिका कहती है कि हे प्रिय ! हम उस देश मे चलें, जहाँ हमें खंग का व्यवसाय अर्थात् युद्ध प्राप्त हो सके । वीर योद्धा हैं, उनको अपनी जीविका के लिए, अपने को रण-कौशल मे दक्ष बनाये रखने के लिए युद्ध चाहिए । जिस देश मे युद्ध प्राप्त नहीं है, वहाँ वे दुर्बल हो जायेंगे ।

> कंत जु सीहहों उवमिअइ तं महु खण्डिउ माणु ।
> सीहु निरक्खय गय हणय पिउ पय-रक्ख-समाणु ।।

देखिये, वही

एक नायिका कहती है कि जब मेरे पति की उपमा सिंह से दी जाती है, तब मुझे संकोच होता है । मेरे स्वाभिमान को कुछ धक्का-सा लगता है, क्योंकि सिंह सदा ऐसे हाथियों को मारता है, जिसकी रक्षा करने वाला कोई नहीं रहता, किन्तु मेरे पति तो ऐसे हाथियो को मारते है, जिनकी रक्षा के लिए उनके पीछे बहुत से पद-रक्षक रहा करते हैं । कहने का तात्पर्य यह कि मेरे पति रण-स्थल में प्रतिपक्षियो से रक्षित हाथी पर वार करते हैं ।

> "यः शस्त्र-वृत्ति-समरे रिपु स्यात्
> यः कंटको वै निजमण्डलस्य ।
> अस्त्राणि तत्रैव वीराः क्षिपन्ति
> न-दीन् कानीन् शुभाशुभेषु ।।"

—यशस्तिलकचम्पू

अर्थ—जो शस्त्र लेकर युद्ध के लिए तत्पर है, जो देश का कण्टक बन कर देश की शक्ति को चुनौती दे रहा है, शूरवीर उन पर ही अपना शस्त्र चलाते हैं । कुलीन क्षत्रिय लोग असमर्थ दीनों पर हथियार नहीं चलाते ।

जीवन्तु मे शत्रुगणाः सदैव
येषां प्रयत्नेन निराकुलोऽहम् ।
यदा यदा मां भजते प्रमाद—
स्तदा मां प्रतिबोधयन्ति ॥ —नीतिशतक

अर्थ—मेरे शत्रु सदा जीवित रहे । मैं उनके विरोधी प्रयत्नो से (सावधान होकर चलने के परिणाम स्वरूप) निराकुल हूँ । जब-जब मुझे प्रमाद होता है, तब-तब वे मुझे प्रतिबोध (चेतावनी) देते रहते है ।

जीवितात्तु पराधीनाज्जीवानां मरणं वरम् ।
मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रत्वं, वितीर्णं केन कानने ॥

क्षत्रचूड़ामणि—४०

अर्थ—पराधीन रहने की अपेक्षा तो प्राणियो का मर जाना ही अच्छा है । जैसे जगल में सिंह अपने बल और विक्रम के द्वारा ही सब चौपायो का राजा बन बैठता है, किसी के बनाने से नही, उसी प्रकार मुझे भी पुरुषार्थ कर राजा को मार कर राज्य का एकाधिकारी बन कर ही विश्राम लेना चाहिए । क्योकि जब तक राजा जीवित है तब तक मेरी पूरी दाल नहीं गल पाती ।

एव राजद्रुहां हन्त, सर्वद्रोहित्व-सम्भवे ।
राजध्रुगेव किं न स्यात्, पञ्चपातकभाजनम् ॥

क्षत्रचूड़ामणि—४७

अर्थ—जो मनुष्य राजा से भी द्रोह करते नहीं डरता, वह अन्य मनुष्यों से साथ द्रोह करते तो डरेगा क्यो ? इसलिए वह पांचो पापों का करने वाला भी होता है, इसमे कोई शका नही रहती ।

किञ्चात्र दैवतं हन्ति, दैवतद्रोहिणं जनम् ।
राजा राजद्रुहां वंशं, वंश्यानन्यच्च तत्क्षणे ॥

क्षत्रचूड़ामणि—४९

अर्थ—इस लोक मे जो मनुष्य जिस देवता का अपमान करता है, वह देवता केवल उसी मनुष्य को दु.ख दे सकता है, किन्तु जो मनुष्य राजा का तिरस्कार करता है, वह राजा उस मनुष्य को, उसके वशजों को और धन-दौलत आदि को उसी समय नष्ट-भ्रष्ट कर देता है ।

: ४ :

युद्धस्य वार्ता रम्या

युद्ध की वार्ता सुनने में रोचक लगती है। परन्तु युद्ध वास्तव में रोचक नहीं होता। प्राणों का बलिदान देकर युद्ध की पक्तिया लिखी जाती हैं। कवियों ने लिखा है—'निविशते यदि शूकशिखा पदे सृजति सा कियतीमिव न व्यथाम्'—यदि कांटे की नोक भी पैर में चुभ जाती है तो कितनी पीड़ा होती है? और युद्ध में तो कांटों से सहस्र गुण मारक अस्त्रों का आघात निष्ठरता से किया जाता है। युद्ध घोर सहार क्रीडा है।

मनुष्य नाखूनों को तो काटता रहता है पर लोहे के नाखून बनाता है। तन के नाखून काटने से क्या होता है, मन के नख तो बढ़े हुए हैं। जब जब मनुष्य शस्त्रास्त्र बनाता है, तब तब उसके मन मे युद्ध करवटें लेता रहता है। सूई का उत्पादन कपड़े सीने के लिए होता है और एक भी गोली का निर्माण किसी पर शत्रु बुद्धि रखकर किया जाता है। जब तक सूई बनेगी, कपडे सिये जाते रहेंगे, जब तक कपड़ो की सिलाई चालू रहेगी, सूइयों का उत्पादन बना रहेगा। क्योंकि आवश्यकता आविष्कार की जननी है। जिस दिन आवश्यकता नही रहेगी, वैसे आविष्कार नहीं होगे।

यह कितने खेद की बात है कि मनुष्य अन्न बोने के स्थान पर अफीम की खेती करता है, निर्माण के स्थान पर विनाश के आयुधो मे पैसा बर्बाद करता है। आखिर टैंक, वायुयान, बम, राकेटो का निर्माण मानव जाति के निर्माण के लिए तो नही किया जाता। इनकी रचना के पीछे विनाश की पुकार छिपी है। आज की मंहगाई क्या इसलिए नहीं है कि अरबों रुपयों का व्यय लोहा, बारूद के लिए किया जा रहा है और इतना अधिक सामरिक वस्तुओं का निर्माण मनुष्य को मनुष्य के प्रति हिंसक वृत्ति को ही चरितार्थ करता है। हिंसा के ये भयानक खेल जिन्हे रचते है वे कभी मैदान में आकर शहीद नही होते। वे तो दूसरो के कन्धों पर बन्दूक रखकर घोडा दबाते हैं। ऐसे स्वार्थी मानव जाति के शत्रु हैं और बिना हेतु प्रजाओ का वध करते हैं।

अग्नि से अग्नि शान्त नहीं होती और युद्ध से युद्ध का प्रतिकार स्थायी नहीं होता। स्थायी शान्ति के लिए अहिंसा आवश्यक है। जब मनुष्य के मन में मैत्रीभाव होगा तभी शान्ति होगी, नही तो दबाकर रक्खी हुई आग फिर हवा लगते ही सुलगने लगेगी।

युद्ध का जन्म वैरभाव से होता है और वैरभाव का जन्म अहंकार से। जब कोई किसी को तुच्छ समझने लगता है तब वह उसकी अवमानना करता है और इसी से अनेक संघर्षों का उदय होता है। मानव मानव के प्रति सहिष्णु रहे और अपनी हिंसावृत्ति को बलपूर्वक दूसरो पर न लादे तो शान्ति से जीवन बिता सकता है।

जो लोग आसुरी प्रवृत्ति के होते हैं वे मद्य-मास खाकर युद्ध की बातें करते है। भले और शान्तिप्रिय लोगो का निरुपद्रव जीवन वे सहन नही कर पाते और बिना कारण लडने को तैयार हो जाते हैं। उन्हें शान्त करना आवश्यक हो जाता है। क्योकि उनको प्रोत्साहन मिलने से वे धर्म, आचार, शील आदि सद्‌गुणो पर प्रहार करते हैं। नीति मे ऐसे लोगो को दण्डनीय बताया गया है। दुष्टनिग्रह तथा शिष्टपरिपालन शासक का धर्मकर्तव्य है।

युद्ध यदि धर्म रक्षार्थ, परिवार तथा शील-सस्कृति की रक्षा के लिए किया जाए तो वह सर्वथा हिसा नही होती, उसमे भी शील, सस्कृति, धर्म की रक्षारूप अहिंसा विद्यमान रहती है। इस रूप मे युद्ध रक्षात्मक है और आवश्यक होने पर पालनीय भी है। यह पवित्र सिद्धान्तो तथा मर्यादाओ की रक्षा के लिए उचित है।

: ५ :

श्रीऋषभदेवस्य शतपुत्रनामानि

१. भरत. २. बाहुबली ३. शंख: ४. विश्वकर्मा ५. विमल: ६. सुलक्षण: ७. अमल: ८. चित्रांग: ९. ख्यातिकीर्त्ति: १०. वरदत्त. ११. सागर: १. यशोधर: १३. अमर: १४. रथवर: १५. कामदेव: १६. ध्रुव: १७. वच्छ: १८. नन्द· १९. सुर. २०. सुनन्द २१. कुरु. २२. अंग: २३. वंग: २४. कौशल: २५. वीर. २६. कलिंग: २७. मागध २८. विदेह: २९ संगम: ३०. दशार्ण. ३१. गम्भीर· ३२. वसुधर्मा ३३. सुवर्मा ३४. राष्ट्र: ३५. सुराष्ट्र: ३६. बुद्धिकर: ३७. विविधकर. ३८. सुयशा: ३९. यशस्कीर्त्ति ४०. यशस्कर: ४१. कीर्तिकर: ४२. सूरण: ४३. ब्रह्मसेन: ४४. विक्रान्त: ४५. नरोत्तम: ४६. पुरुषोत्तम: ४७. चन्द्रसेन: ४८. महासेन. ४९. नभ:सेन: ५०. भानु: ५१. सुकान्त: ५२. पुष्पयुत· ५३. श्रीधर: ५४. दुर्धर्ष ५५. सुसुमार: ५६. दुर्जय: ५७. अजेय-मान: ५८. सुधर्मा ५९. धर्मसेन: ६०. आनन्दन· ६१. आनन्द: ६२. नन्द: ६३. अपराजित: ६४. विश्वसेन: ६५. हरिषेण. ६६. जय: ६७. विजय. ६८. विजयन्त: ६९. प्रभाकर: ७०. अरिदमन: ७१. मान: ७२. महाबाहु: ७३. दीर्घबाहु: ७४. मेघ: ७५. सुघोष ७६. विश्व: ७७. वराह. ७८. सुसेन: ७९. सेनापति: ८०. कपिल: ८१. शैलविचारी ८२. अरिञ्जय. ८३, कुञ्जरबल: ८४. जयदेव· ८५. नागदत्त· ८६. काश्यप: ८७. बल: ८८ धीर: ८९. शुभमति: ९०. सुमति: ९१. पद्मनाभ: ९२. सिंह: ९३. सुजाति· ९४. संजय. ९५. सुनाभ: ९६. नरदेव: ९७. चित्तहर: ९८. सुरवर: ९९. दृढरथ: १००. प्रभञ्जन:

—इति ।

अभिधानराजेन्द्रकोश:, 'उसभ' प्रकरण, पृष्ठ ११२९.

श्रीमद्भागवते श्रीऋषभदेवस्योनविंशतिपुत्राणां नामोल्लेखः

'आत्मजानामात्मसमानानां शतं जनयामास। येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः······तमनु कुशावर्त इलावर्तो ब्रह्मावर्तो मलयःकेतुर्भद्रसेनः इन्द्रस्पृग्विदर्भः कीकट इति नव नवति प्रधानाः। कविर्हरिरन्तरिक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः। आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः करभाजनः॥" इति भागवतधर्मदर्शनानवमहाभागवताः। यवीयांस एकाशीतिर्जायन्तेयाः (जयन्त्यामुत्पन्ना.) इति।

श्रीभागवत् ५।४।९-१३

१. भरतः २. कुशावर्त्तः ३. इलावर्तः ४. ब्रह्मावर्तः ५. मलयः ६. केतुः ७. भद्रसेनः ८. इन्द्रस्पृक् ९. विदर्भः १०. कीकटः ११. कविः १२. हरिः १३. अन्तरिक्षः १४. प्रबुद्धः १५. पिप्पलायनः १६. आविर्होत्रः १७. द्रुमिलः १८. चमसः १९. करभाजनः।

भगवज्जिनसेनाचार्यस्य महापुराणे वर्णितानि श्रीऋषभदेव सुताना कानिचिन्नामानि—

१. भरतः २. वृषभसेन ३. अनन्तविजयः ४. अनन्तवीर्यः ५ अच्युतः ६. वीरः ७. वरवीरः। —१६।१।४.